

GOVERNMENT OF INDIA
DEPARTMENT OF ARCHAEOLOGY
CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY

CLASS _____

CALL No. 901.0954 *ojh* _____

D.G.A. 79.







Madhya Kālīna Bhāratīya Sanskriti

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति

[६०० ई०—१२०० ई०]



अर्थात्

संयुक्तप्रदेश की हिंदुस्तानी एकेडेमी की अवधानता

में प्रयाग में ता० १३, १४ सितंबर १९२८

को दिए गए तीन व्याख्यान

9924

व्याख्यानदाता

रायबहादुर महामहोपाध्याय गौरीशंकर

हीराचंद ओझा

Ojha, Hiraachand

901.0954 १९२८

Ojha

प्रकाशक

हिंदुस्तानी एकेडेमी, संयुक्त प्रदेश, प्रयाग

313/41

Ojha

Pa. 21

R. 3/11

Published by
The Hindustani Academy,
U. P.
Allahabad.

TYPE OF SCIENTIFIC
PUBLICATION

9924
28. 10. 1958
901. 0954/Dyh
Call No.

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd,
Benares-Branch.

प्राकथन

संयुक्त प्रांत की सरकार ने हिंदी और उर्दू भाषाओं की उन्नति के लिये 'हिंदुस्तानी एकेडेमी' की स्थापना कर प्रशंसनीय कार्य किया है। उक्त एकेडेमी ने मुझे ६०० ई० से १२०० ई० तक अर्थात् राजपूत काल की भारतीय संस्कृति पर तीन व्याख्यान देने की आज्ञा देकर सम्मानित किया है, इसके लिये मैं समिति का अनुगृहीत हूँ। यह ६०० साल का काल भारतीय इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व का है।

इस काल की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक अवस्था बहुत उन्नत थी। धार्मिक दृष्टि से तत्कालीन भारतवर्ष की दशा आश्चर्यकारक थी। बौद्ध, जैन और हिंदू धर्म तथा उनके अनेक धार्मिक संप्रदाय अपनी अपनी उन्नति कर रहे थे। अनेक संप्रदाय अस्त हुए और अनेकों का प्रादुर्भाव तथा विकास हुआ। इसी तरह कई दार्शनिक संप्रदायों का भी आविर्भाव और विकास हुआ। भिन्न भिन्न परस्पर-विरुद्ध मतों का विकास या हास किस तरह हुआ यह ज्ञातव्य, रोचक तथा आश्चर्यकारक कथा है। इसी समय में प्रसिद्ध विद्वान् शंकराचार्य हुए, जिन्होंने दार्शनिक क्रांति कर दी। उनके अतिरिक्त रामानुज और मध्वाचार्य प्रभृति आचार्य भी हमारे समय में हुए।

ग्रीक, चित्रपों तथा कुशनों के राज्य समाप्त होने के बाद गुप्त वंश भी उन्नत होकर नामशेष हो चुका था। भारतवर्ष में भिन्न भिन्न वंश अपना राज्य फैला रहे थे। दक्षिण में सोलंकी राजाओं का अधिक प्रभाव था। उत्तर में वैसे (हर्ष), पाल, सेन आदि वंश भी

उन्नति कर रहे थे। मुसलमान भी सिंध में आ चुके थे और ग्यारहवीं बारहवीं सदी में मुसलमानों का प्रवेश भारत में विशेष रूप से हो चुका था और कितने एक प्रांतों पर भी उनका अधिकार हो गया था। इस तरह भिन्न भिन्न राजवंशों के विकास और हास आदि अनेक राजनीतिक परिवर्तनों के कारण भी इस काल का महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

इन महत्त्वपूर्ण राजनीतिक और धार्मिक परिवर्तनों के कारण तत्कालीन सामाजिक स्थिति में भी विशेष महत्त्व के परिवर्तन हुए। उस समय के विचार-प्रवाह, रीति रिवाज आदि में कम महत्त्व के परिवर्तन नहीं हुए। समाज का संगठन भी पहले से बदल गया। केवल सामाजिक स्थिति ही नहीं, किंतु उस समय की राजनीति पर भी उसका कम प्रभाव नहीं पड़ा। तत्कालीन शासनपद्धति एवं राजकीय संस्थाओं में भी कुछ परिवर्तन हुआ।

कृषि, व्यापार और व्यवसाय इन तीनों के उन्नत होने के कारण यह काल आर्थिक दृष्टि से भी विशेष महत्त्व का था। यूरोप और एशिया के देशों के साथ भारतीय व्यापार बहुत बढ़ा हुआ था। भारतवर्ष केवल कृषिप्रधान देश ही नहीं बल्कि व्यवसाय-प्रधान देश भी था। वस्त्र-व्यवसाय के अतिरिक्त सेना, लोहा, काँच, हाथीदाँत इत्यादि के व्यवसाय भी बहुत उन्नत थे। भारतवर्ष अधिक संपन्न और ऐश्वर्यशाली था। भोजन और अन्य आवश्यक पदार्थ बहुत सस्ते थे जिससे किसी को भोजनादि की विशेष चिंता नहीं रहती थी।

उस समय का ज्ञानसंबंधी विकास भी कम नहीं था, जैसा कि आगे मालूम होगा। हमारे इस समय में काव्य, नाटक, कथाएँ आदि साहित्य-विषयक ग्रंथों के अतिरिक्त ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद तथा कलाकौशल में विशेष उन्नति हुई थी। इस तरह हम देखते हैं कि यह काल प्रायः सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। ऐसे बटना-

पूर्ण और महत्त्वशाली विषय पर विस्तार से लिखने के लिये पर्याप्त समय, पर्याप्त अव्यवसाय और प्रचुर सामग्री की आवश्यकता है। परंतु इस गुरुतर कार्य को सुचारु रूप से संपादन करने की योग्यता मुझमें नहीं है। मैं चाहता था कि यह कार्य किसी योग्यतर विद्वान को सौंपा जाता। मुझे खेद है कि मेरा स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण मैं इसमें यथेष्ट समय एवं सहयोग न दे सका।

इस विषय को मैंने तीन भागों में विभक्त किया है। पहले भाग या व्याख्यान में तत्कालीन घमों—बौद्ध, जैन तथा हिंदू—के भिन्न भिन्न संप्रदायों के विकास और हास तथा उस समय की सामाजिक स्थिति, वर्णाश्रम-व्यवस्था, दासप्रथा, रहन सहन, रीति रिवाज आदि पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे भाग में भारतीय साहित्य, अर्थात् कोष, व्याकरण, दर्शन, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, राजनीति, अर्थशास्त्र, शिल्प, संगीत, चित्रकला आदि विषयों की तत्कालीन स्थिति पर विचार किया गया है। तीसरे भाग में उस समय की शासन-पद्धति, ग्राम-पंचायतों का निर्माण और उनके अधिकार, सैनिक व्यवस्था तथा न्यायादि पर प्रकाश डालते हुए उस दीर्घकाल में होने-वाले परिवर्तनों का संक्षेप से उल्लेख कर उस समय की आर्थिक स्थिति—कृषि, व्यापार, व्यवसाय, व्यापार-मार्ग, आर्थिक समृद्धि आदि—पर भी कुछ विचार किया गया है। ऊपर लिखे हुए विषयों में से प्रायः प्रत्येक विषय इतना गंभीर और विस्तृत है कि उन पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखे जा सकते हैं। केवल तीन व्याख्यानों में इन सबका समावेश संक्षिप्त रूप में ही हो सकता है।

इस समय की संस्कृति पर प्रकाश डालने के लिये, जो सामग्री मिलती है, वह बहुत नहीं है। विशुद्ध इतिहास के ग्रंथ, जिनमें तत्कालीन संस्कृति का स्पष्ट उल्लेख हो, बहुत थोड़ी संख्या में मिलते हैं। नहीं कहा जा सकता कि कितने ऐसे ग्रंथ लिखे गए हों और

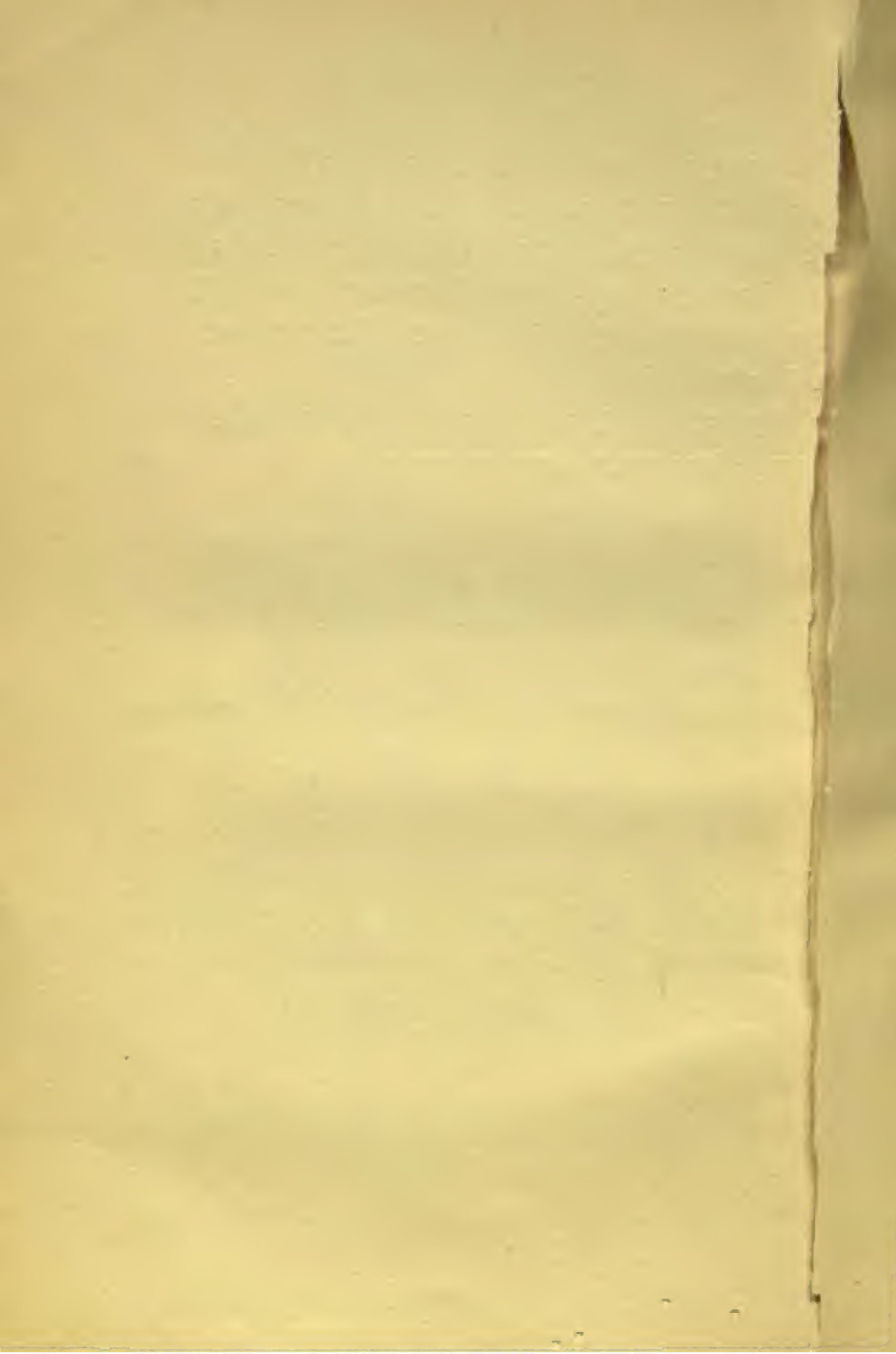
वे काल-प्रवाह के चक्र में पड़कर नष्ट हो गए हों। फिर भी हमें इस समय पर विचार करने के लिये भिन्न भिन्न ग्रंथों से सहायता मिल सकती है। इस सामग्री का संक्षेप से हम यहाँ निर्देश करते हैं।

सबसे पूर्व चीनी यात्री हुएन्त्संग और इत्सिंग के यात्रा-वर्णनों से उस समय की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति का अच्छा परिचय मिलता है। चीनी यात्रियों के अतिरिक्त अल्लमसूदी और अल्बेरुनी आदि अरब के भारत-विषयक ग्रंथ भी विशेष महत्त्व के हैं। उस समय संस्कृत, प्राकृत या द्रविड़ भाषाओं के काव्य, नाटक, कथाओं और पुराण आदि से भी तत्कालीन सामाजिक सभ्यता के संबंध में काफी बातें मालूम होती हैं। प्राचीन शोध से उपलब्ध ताम्रपत्रों, शिलालेखों, सिक्कों और मुद्राओं से भी कम सहायता नहीं मिलती। याज्ञवल्क्य, हारीत, विष्णु प्रभृति स्मृतियों तथा विज्ञानेश्वर-कृत याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका मिताक्षरा से तत्कालीन सब प्रकार की स्थिति पर बहुत प्रकाश पड़ सकता है।

इस प्राचीन सामग्री के अतिरिक्त नवीन लेखकों की भी कई पुस्तकों से बहुत सहायता ली गई है। इनमें से रमेशचन्द्र दत्त-रचित 'ए हिस्ट्री आफ सिविलिजेशन इन एंशयंट इंडिया', सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर-कृत 'वैष्णविष्म शैविष्म एंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम', विनयकुमार सरकार-निर्मित 'दि पोलिटिकल इस्टि-ट्यू शंस एंड थ्योरीज आफ दि हिंदूज', राधाकृष्ण मुकुर्जी का 'हर्ष', के० एम० पनिकर का 'श्रीहर्ष आफ कन्नोज', चि० वि० वैद्य-कृत 'हिस्ट्री आफ मिडिएवल इंडिया', ए० मैकडानल-कृत 'इंडियाज पास्ट', नरेंद्रनाथ ला-कृत 'स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एंड कल्चर', हर-विलास सारड़ा रचित 'हिंदू सुपीरियोरिटी', जान ग्रिफिथ-रचित 'दी पेंटिंग्स आफ एजेंटा', लेडी हैरिंगहम-कृत 'अजेंटा फ्रिस्कोज', एन० सी० मेहता की 'स्टडीज इन इंडियन पेंटिंग', 'इंपीरियल गेजेटियर

आफ इंडिया', प्रो० मैकडानल और कीथ-कृत 'वैदिक इंडैक्स' और आफ्रेक्ट का 'कैटेलागस् कैटेलागरम', इलियट को 'हिस्ट्री आफ इंडिया', मेरी बनाई हुई 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला', 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास', 'राजपूताने का इतिहास' तथा 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' और 'इंडियन एंटिक्वेरी', 'एपिग्राफिया इंडिका' आदि पत्रिकाएँ विशेषतः उल्लेखनीय हैं ।

हिंदुस्तानी एकेडेमी को एक बार फिर धन्यवाद देते हुए मैं अब प्रस्तुत विषय पर अपने विचार आरंभ करता हूँ ।



विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
प्रथम व्याख्यान—धर्म और समाज	१—७०
बौद्ध धर्म की उत्पत्ति और उसका प्रचार	३
बौद्ध धर्म के सिद्धांत	४
बौद्ध धर्म की अवनति	५
बौद्ध धर्म पर हिंदू धर्म का प्रभाव और महायान संप्रदाय की उत्पत्ति	६
बौद्ध धर्म के पतन का कारण	७
बौद्ध धर्म के पतन का ऐतिहासिक घटनाक्रम	८
जैन धर्म की उत्पत्ति और उस समय का हिंदू धर्म	९
जैन धर्म के मुख्य सिद्धांत	१०
बौद्ध और जैन धर्म का पार्श्विक्य	१२
जैन धर्म के संप्रदाय	१२
जैन धर्म का अधिक प्रचार न होने के कारण	१२
जैन धर्म की उन्नति और अवनति	१३
प्राचीन ब्राह्मण धर्म	१५
ब्राह्मण धर्म में मूर्तिपूजा का प्रचार	१६
वैष्णव संप्रदाय का उद्भव	१६
वैष्णव धर्म के सिद्धांत और उसका प्रचार	१७
रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत संप्रदाय	१८
मध्वाचार्य और उनका संप्रदाय	१९
विष्णु की मूर्ति	२०

विषय	४४
शैव संप्रदाय	२१
शैव संप्रदाय की भिन्न भिन्न शाखाएँ और उनके सिद्धांत	२२
दक्षिण में शैव संप्रदाय का प्रचार	२५
ब्रह्मा की मूर्ति	२६
त्रिदेव-पूजा	२६
शक्ति-पूजा	२७
कौलमत	२७
गणेश-पूजा	२८
स्कंद-पूजा	२८
सूर्य-पूजा	२८
अन्य देवताओं की मूर्तियाँ	३२
हिंदू धर्म के सामान्य अंग	३३
कुमारिल भट्ट और उसके सिद्धांत	३५
शंकराचार्य और उनके सिद्धांत	३६
भारत में इस्लाम का प्रवेश	३८
वर्ण-व्यवस्था	४०
ब्राह्मण और उनके कर्तव्य	४०
ब्राह्मणों की उपजातियाँ	४२
क्षत्रिय और उनके कर्तव्य	४४
वैश्य और उनका कर्तव्य	४६
शूद्र	४६
कायस्थ	४७
अंत्यज	४८
वर्णों का परस्पर संबंध	४८
छूतछात	५०

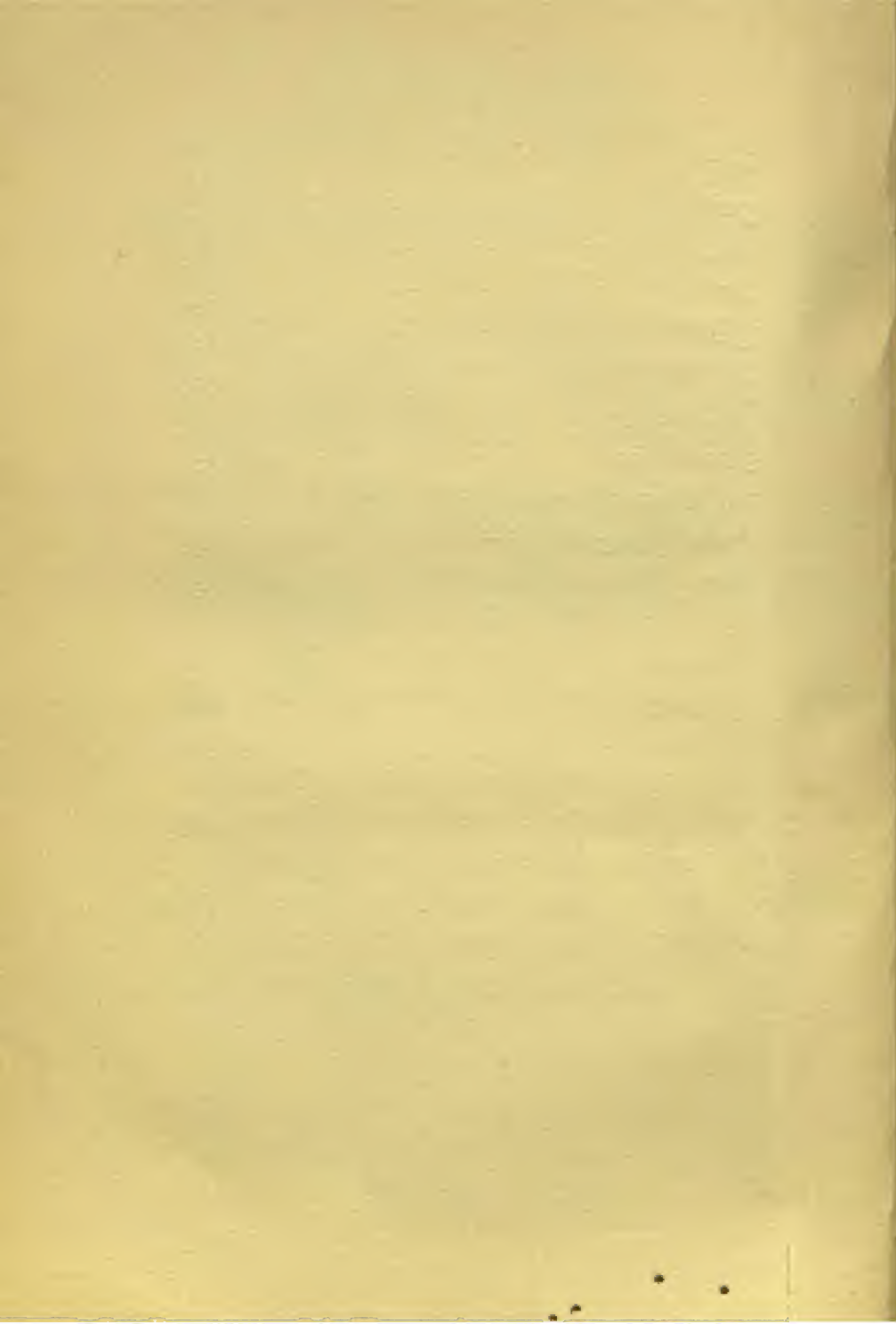
विषय	पृष्ठ
भारतीयों का भौतिक जीवन	५०
वस्त्र	५२
आभूषण	५५
भोजन	५७
दास-प्रथा	५८
बहुम	६१
चरित्र	६२
स्त्री-शिक्षा	६४
पर्दा	६६
विवाह	६७
सती प्रथा	६८
द्वितीय व्याख्यान—साहित्य	७१-१४८
संस्कृत साहित्य के विकास की प्रगति	७४
तत्कालीन साहित्य के कुछ उत्कृष्ट काव्य	७५
सुभाषित संग्रह	७८
गद्य काव्य	७८
चंपू	८१
नाटक	८१
ध्वनि, अलंकार आदि साहित्य के अंग	८३
तत्कालीन काव्य साहित्य का सिंहावलोकन	८४
व्याकरण	८५
कोष	८६
दर्शन	८७
न्यायदर्शन	८८
वैशेषिक दर्शन	९०

विषय	पृष्ठ
सांख्य	८२
योग	८२
पूर्व मीमांसा	८३
उत्तर मीमांसा	८५
शंकराचार्य और उनका अद्वैतवाद	८५
रामानुज और उनका विशिष्टाद्वैत	८७
मध्वाचार्य और उनका द्वैतवाद	८८
चारवाक	८८
बौद्ध-दर्शन	८८
जैन-दर्शन	८८
तत्कालीन दार्शनिक उन्नति का सिंहावलोकन	१००
यूरोपीय दर्शन पर भारतीय दर्शन का प्रभाव	१००
ज्योतिष शास्त्र की पूर्वकालीन उन्नति	१०२
६०० ई०—१२०० ई० तक का ज्योतिष साहित्य	१०४
फलित ज्योतिष	१०६
भारतीय गणित शास्त्र	१०७
अंक-क्रम का विकास	१०८
अंकगणित	११५
बीजगणित	११५
रेखागणित	११६
त्रिकोणमिति	११७
आयुर्वेद का साहित्य	११८
शल्यविद्या का विकास	१२०
सर्प-विद्या	१२२
पशु-चिकित्सा	१२२

विषय	पृष्ठ
पशु-विज्ञान	१२३
चिकित्सालय	१२५
भारतीय आयुर्वेद का यूरोपीय चिकित्सा पर प्रभाव	१२५
कामशास्त्र	१२७
संगीत साहित्य	१२८
नृत्य	१२८
राजनीति	१३०
कानूनी साहित्य	१३१
अर्थशास्त्र	१३२
प्राकृत साहित्य का विकास	१३४
मागधी	१३५
शौरसेनी	१३५
महाराष्ट्री	१३६
पैशाची	१३६
आर्वतिक	१३६
अपभ्रंश	१३७
प्राकृत व्याकरण	१३८
प्राकृत-कोष	१३८
तामिल	१४०
कन्नड़ी	१४१
तैलगू	१४१
शिन्धा	१४२
नालंद विश्वविद्यालय	१४२
तच्छिला विश्वविद्यालय	१४४
शिन्धा का क्रम	१४५

विषय	पृष्ठ
तृतीय व्याख्यान—शासन, शिल्प और कला	१४९-१९३
शासन-पद्धति	१४९
राजा के कर्त्तव्य	१५१
ग्राम-संस्था	१५३
दंड	१५५
स्त्रियों की राजनीतिक स्थिति	१५७
शासन-प्रबंध	१५८
आय-व्यय	१५८
सार्वजनिक कार्य	१५८
सैनिक-प्रबंध	१५८
राजनीतिक स्थिति तथा शासन-पद्धति में परिवर्तन	१६०
आर्थिक स्थिति	१६३
कृषि और सिंचाई का प्रबंध	१६३
व्यापारिक नगर	१६४
व्यापार के जल-मार्ग	१६६
व्यापार के स्थलमार्ग	१६६
भारतीय व्यापार	१६७
मेले	१६७
व्यवसाय	१६८
लोहा आदि धातुओं का व्यवसाय	१६८
काँच आदि का व्यवसाय	१६८
गणसंस्था	१७०
सिक्के	१७१
भारत की आर्थिक स्थिति	१७३
स्तूप	१७४

विषय					पृष्ठ
गुफाएँ	१७४
मंदिर	१७५
स्तंभ	१७८
मूर्तियाँ	१७८
वास्तु विद्या की उन्नति	१८१
वैज्ञानिक उन्नति	१८२
गुफाओं के चित्र	१८३
भारतीय शिल्पकला का अन्य देशों में प्रभाव	१८०
भारतीय चित्रकला की विशेषता	१८०
संगीत	१८१



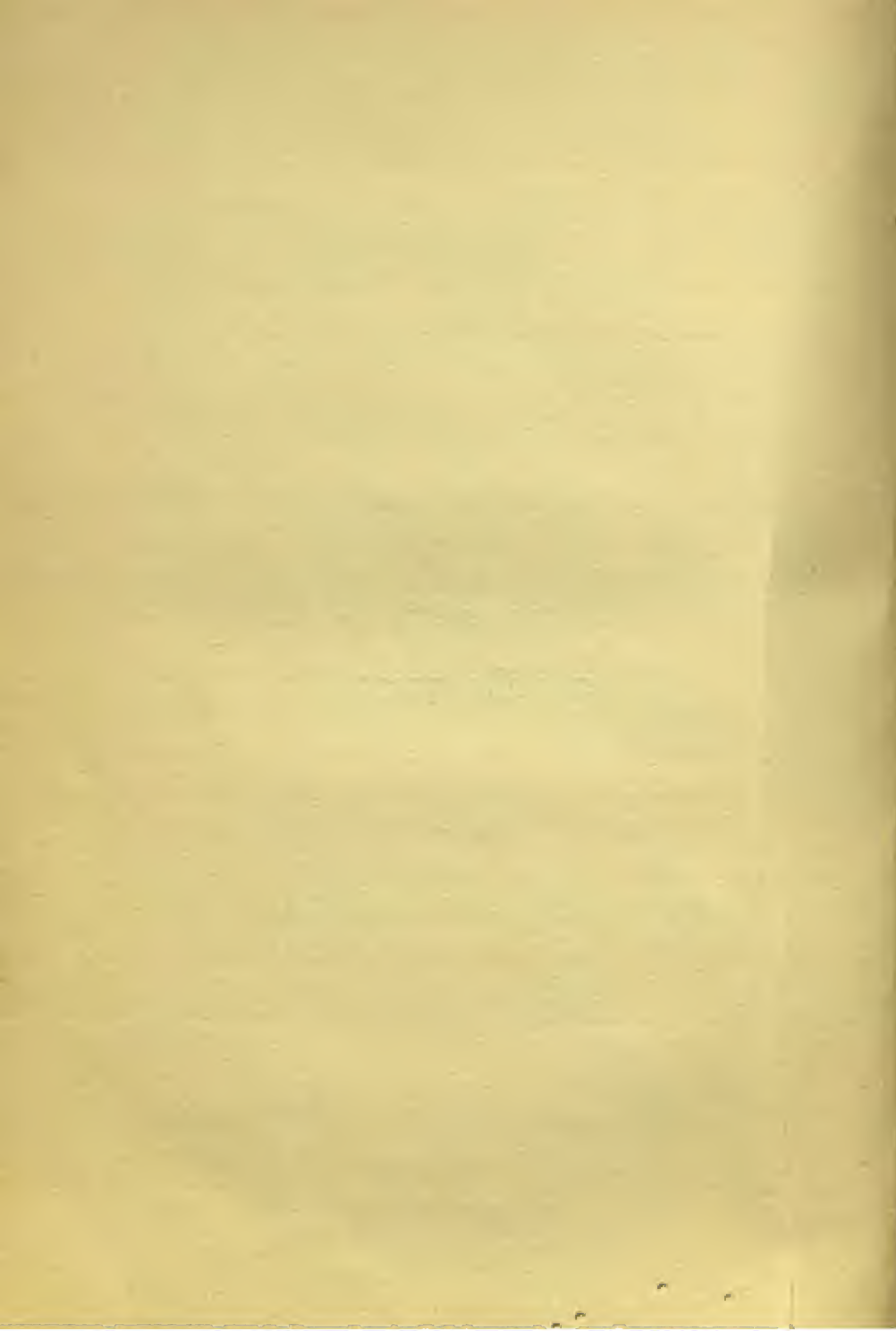
चित्रों की सूची

पृष्ठ

(१) हिंदुओं का बुद्धावतार (राजपूताना म्यूजियम्)	७
(२) शेषशायी विष्णु (त्रिवेन्द्रम्)	१६
(३) विष्णु की चौदह हाथवाली मूर्ति (राजपूताना म्यूजियम्)	२०
(४) विष्णु की मूर्ति (राजपूताना म्यूजियम्) ...	२१
(५) शिव की त्रिमूर्ति (धारापुरी)	२१
(६) लकुलोश की मूर्ति (राजपूताना म्यूजियम्) ...	२२
(७) ब्रह्मा, विष्णु और शिव की मूर्ति (राजपूताना म्यूजियम्)	२६
(८) लक्ष्मीनारायण की मूर्ति (राजपूताना म्यूजियम्) ...	२६
(९) अर्धनारीश्वर की मूर्ति (मदुरा)	२६
(१०) ब्रह्माक्षी की मूर्ति (राजपूताना म्यूजियम्) ...	२७
(११) सूर्य की मूर्ति (राजपूताना म्यूजियम्) ...	३०
(१२) यम की मूर्ति (राजपूताना म्यूजियम्) ...	३२
(१३) नव ग्रहों में शुक्र, शनैश्वर, राहु और केतु की मूर्तियाँ (राजपूताना म्यूजियम्)	३२
(१४) छींट की अँगिया पहनी हुई स्त्री का चित्र (अजंटा की गुफा)	५४
(१५) भूषणादि से अलंकृत स्त्री का सिर (राजपूताना म्यूजियम्)	५५
(१६) स्त्री के सिर का केशविन्यास (राजपूताना म्यूजियम्)	५५

(१७) शिव का तांडव नृत्य (मद्रास म्यूजियम्)	...	१३०
(१८) इल्लोरा का पर्वतीय कैलास मंदिर	१७४
(१९) द्रविड़ शैली के मंदिर का धर्मराज रथ (मामल्लपुरम्)		१७५
(२०) द्रविड़ शैली का हिंदू मंदिर (तंजौर)	...	१७६
(२१) होयसलेश्वर के मंदिर का बाहरी पार्श्व (हल्लेविड)		१७७
(२२) आर्य शैली का हिंदू मंदिर (खजराहो)	...	१७८
(२३) आबू के जैन मंदिर का गुंबज और द्वार	...	१७९
(२४) वडनगर (गुजरात) के मंदिर का तोरण	...	१८९

प्रथम व्याख्यान
धर्म और समाज



प्रथम व्याख्यान

धर्म और समाज

बौद्धधर्म

ईसवी सन् ६०० से लगाकर १२०० तक भारतवर्ष में तीन धर्म—
वैदिक, बौद्ध और जैन—मुख्यतः पाए जाते हैं। सातवीं सदी के
प्रारंभ-काल में यद्यपि बौद्ध धर्म की अवनति हो रही थी तो भी उसका
प्रभाव बहुत कुछ था, जैसा कि हुएन्त्संग के यात्रा-विवरण से जान
पड़ता है, अतएव हम बौद्ध धर्म का विवेचन पहले करते हैं।

भारतवर्ष का प्राचीन धर्म वैदिक था, जिसमें यज्ञ यागादि की
प्रधानता थी और बड़े बड़े यज्ञों में पशुहिंसा भी होती थी। मांस-

भक्षण का प्रचार भी बढ़ा हुआ था। जैनों
बौद्ध धर्म की उत्पत्ति और उसका प्रचार
और बौद्धों के जीव-दया-संबंधी सिद्धांत पहले
से ही विद्यमान थे, परंतु उनका लोगों पर

विशेष प्रभाव न था। शाक्य-वंशी राजकुमार गौतम (महात्मा
बुद्ध) ने बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ाने का बीड़ा उठाया और उनके
उपदेश से अनेक लोग बौद्ध धर्म ग्रहण करने लगे, जिनमें बहुत से
राजा, राजवंशी, ब्राह्मण, वैश्य आदि भी थे। दिन दिन इस धर्म
का प्रचार बढ़ता गया और मौर्यवंशी सम्राट् अशोक ने उसे राजधर्म

बनाकर अपनी आज्ञा से यज्ञादि में पशु-हिंसा की रोक टोक की* । अशोक के प्रयत्न से बौद्ध धर्म का प्रचार केवल भारतवर्ष तक ही परिमित न रहा, बल्कि भारत के बाहर लंका तथा उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में उसका प्रचार और भी बढ़ गया । फिर बौद्ध श्रमणों (साधुओं) और भिक्षुओं के श्रम से शनैः शनैः उसका प्रचार तिब्बत, चीन, मंचूरिया, मंगोलिया, जापान, कोरिया, स्याम, बर्मा और सायबेरिया के किरगिस और कलमुक आदि तक फैल गया ।

यहाँ बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन करना अप्रासंगिक न होगा । बौद्ध धर्म के अनुसार जीवन दुःखमय है, जीवन और उसके सुखों की लालसा दुःखमूलक है, बौद्ध धर्म के सिद्धांत उस लालसा के नष्ट हो जाने से दुःख का नाश हो जाता है और पवित्र जीवन से यह लालसा नष्ट हो जाती है ।

महात्मा बुद्ध के शब्दों में बौद्ध मत मध्यम पथ है, अर्थात् न तो भोग-विलास में ही आसक्त रहना चाहिए और न अनिद्रा, अनाहार, तपस्या आदि कठोर कष्ट साधनाओं के द्वारा आत्मा को क्लेश देना चाहिए । इन दोनों मार्गों के बीच में रहकर चलना चाहिए । संसार और उसके सब पदार्थ अनित्य और दुःखमय हैं । सब दुःखों का मूल कारण अविद्या है । आत्मनिरोध के द्वारा ही आत्मा की उन्नति हो सकती है । काम अथवा तृष्णा का सब प्रकार परित्याग करने से दुःख का निरोध होता है । इस तृष्णा के नाश ही का नाम निर्वाण है । यह निर्वाण जीवित अवस्था में भी प्राप्त हो सकता है । मनुष्य पंच स्कंधों का बना हुआ विशेष प्रकार का एक संघ है, जिसमें विज्ञान-स्कंध की मुख्यता है । विज्ञान-स्कंध को ही हम अपनी परिभाषा में आत्मा का स्थान दे सकते हैं । यही पंच स्कंधों का संघ कर्मों के अनुसार भिन्न भिन्न रूपों में शरीर

* अशोक की धर्मलिपियाँ; अशोक का पहला शिलालेख ।

धारण करता है। इसी का नाम पुनर्जन्म है। विशेष साधनों के अनुष्ठान से इन स्कंधों का अपने मौलिक तत्वों में अंतर्भाव होना ही महानिर्वाण है। बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी विशेषता 'अहिंसा परमो धर्मः' है। किसी भी प्रकार की हिंसा करना बड़ा भारी पाप है, परंतु पीछे से भारतवर्ष के बाहर के बौद्धों ने इस मुख्य सिद्धांत की ओर यथोचित ध्यान न दिया। शील, समाधि और प्रज्ञा यज्ञ ही उत्कृष्ट यज्ञ हैं। बौद्ध धर्म की दूसरी विशेषता यह है कि वह ईश्वर के विषय में उदासीन है। ईश्वरोपासना के बिना भी उसके अनुसार मुक्ति या निर्वाण पाया जा सकता है। तीसरी विशेषता यह है कि वह हिंदू धर्म के प्रधानभूत अंग वर्णाश्रम को नहीं मानता। उसकी दृष्टि में सब—ब्राह्मण और शूद्र—समान रीति से सर्वोच्च स्थान पा सकते हैं। जन्म से नहीं किंतु कर्म से भी मनुष्य की प्रतिष्ठा की जानी चाहिए। बौद्धों के त्रिरत्न—बुद्ध, संघ और धर्म—माने जाते थे।

अनेक राजाओं की ओर से संरक्षण पाकर यह धर्म बहुत बढ़ा। समय समय पर बौद्ध भिक्षुओं में मत-भेद होते रहने से बौद्धधर्म में भिन्न भिन्न संप्रदाय उत्पन्न हुए। इन भेदों को दूर करने के लिये बौद्ध भिक्षुओं की महा-सभाएँ भी समय समय पर होती रहीं, परंतु ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों मतभेद भी बढ़ते गए। चीनी यात्री इत्सिंग के समय में बौद्ध धर्म के १८ भेद हो चुके थे। पीछे से राज्य का सहारा टूट जाने के कारण बहुत शीघ्रता से बौद्ध धर्म की अवनति होने लगी और हिंदू धर्म बहुत तेजी से उन्नति-पथ पर अग्रसर होने लगा, क्योंकि उसे राज्य की भी पर्याप्त सहायता मिल रही थी।

उन्नतिशील हिंदू धर्म का प्रभाव बौद्ध धर्म पर बहुत पड़ा। बहुत से बौद्ध भिक्षुओं ने हिंदू धर्म की कई विशेषताओं को ग्रहण कर लिया।

इसका परिणाम 'महायान' मत के रूप में कुरानवंशी राजा कनिष्क के समय में प्रकट हुआ। प्रारंभिक बौद्ध धर्म संन्यास-मार्ग-प्रधान था।

इसके अनुसार ज्ञान और चार आर्य सत्त्वों की बौद्ध धर्म पर हिंदू भावना से निर्वाण पाया जा सकता है। बौद्ध धर्म का प्रभाव और महा-धर्म में ईश्वर की सत्ता नहीं मानी गई थी। यान संप्रदाय की उत्पत्ति इसलिये बुद्ध की उपस्थिति में भक्ति के द्वारा

परमात्मा की प्राप्ति का उपदेश नहीं दिया जा सकता था। महात्मा बुद्ध के पीछे बौद्ध भिक्षुओं ने देखा कि सब लोग गृहस्थी छोड़कर भिक्षु नहीं बन सकते और न शुष्क तथा निरीश्वर संन्यास मार्ग उनकी समझ में आ सकता है। इसलिये उन्होंने भक्ति-मार्ग का सहारा लिया। स्वयं बुद्ध को उपास्य देव मानकर उनकी भक्ति करने का प्रतिपादन किया गया और बुद्ध की मूर्तियाँ बनने लगीं। फिर २४ अतीत बुद्ध, २४ वर्तमान बुद्ध और २४ भावी बुद्धों की कल्पना की गई। इतना ही नहीं, बोधिसत्त्वों और अनेक तान्त्रिक देवियों आदि की भी कल्पना की गई और इन सबकी मूर्तियाँ बनने लगीं। बौद्ध भिक्षुओं ने गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी भक्तिमार्ग द्वारा निर्वाण पद की प्राप्ति को संभव बताया। इस भक्ति-मार्ग—महायान—पर हिंदू धर्म या भगवद्गीता का बहुत प्रभाव पड़ा। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(१) हीनयान संप्रदाय के ग्रंथ पाली में और महायान संप्रदाय के ग्रंथ संस्कृत में हैं।

(२) महायान मार्ग में भक्ति-मार्ग की प्रधानता है।

(३) हीनयान संप्रदाय में महात्मा बुद्ध देवता के रूप में पूजे नहीं जाते थे, परंतु महायान में देवता मानकर बुद्ध की पूजा होने लगी।

भारत में इस महायान संप्रदाय का प्रचार बहुत बढ़ता गया, इतना ही नहीं, बौद्ध दर्शन पर भी हिंदू दर्शन का प्रभाव बहुत पड़ा। नष्ट होता हुआ बौद्ध धर्म, हिंदू धर्म पर भी गहरा प्रभाव डालने बिना





(१) हिंदुओं का बुद्धावतार
[राजपूताना म्यूजियम्, अजमेर]

न रहा । हिंदुओं ने बुद्ध को भी विष्णु का नवाँ अवतार मानकर बौद्ध जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया । दोनों

धर्मों में इतनी समानता बढ़ गई कि बौद्ध और हिंदू दंतकथाओं में भेद करना कठिन हो गया ।
 बौद्ध धर्म के पतन के कारण

इसका स्वभाविक परिणाम यह हुआ कि लोग बौद्ध धर्म को छोड़कर हिंदू धर्म का, जिसमें सब प्रकार की स्वतंत्रताएँ थीं, आश्रय लेने लगे । बौद्ध धर्म का अहिंसावाद यद्यपि मनोमोहक था, परंतु क्रियात्मक नहीं रह गया था । राजाओं को बुद्ध करने पड़ते थे, साधारण जनता भी मांसाहार छोड़ना पसंद नहीं करती थी । हिंदू धर्म में ये रुकावटें न थीं और फिर ब्राह्मणों द्वारा बुद्धदेव विष्णु के अवतार मान लिए जाने पर बहुत से बुद्ध-भक्तों की रुचि भी हिंदू धर्म की ओर बढ़ने लगी । अत्यंत प्राचीन काल से ईश्वर पर विश्वास रखती हुई आर्य जाति का चिरकाल तक अनीश्वरवाद को मानना बहुत कठिन था । इसी तरह बौद्धों का वेदों पर अविश्वास हिंदुओं को बहुत खटकता था । कुमारिल तथा अन्य ब्राह्मणों ने बौद्धों के इन दोनों सिद्धांतों का जोरों से खंडन आरंभ किया । उनका यह आंदोलन बहुत प्रबल था और इसका परिणाम भी बहुत व्यापक हुआ । कुमारिल के बाद ही शंकराचार्य के आ जाने से इस आंदोलन ने और भी जोर पकड़ा । शंकरदिग्विजय में कुमारिल के द्वारा शंकर को निम्नलिखित श्लोक कहलाया गया है । इससे शंकर के आंदोलन की व्यापकता का पता लगता है—

भुवर्ष्यधर्मविमुखात् सुगतान् निहन्तुं

जातं गुहं भुवि भवन्तमहं नु जाने ॥

अर्थात् वेदार्थ से विमुख बौद्धों को नष्ट करने के लिये आप गुह (कार्तिकेय) रूप से उत्पन्न हुए हैं ऐसा मैं मानता हूँ ।

इसी तरह दूसरे स्थानीय ब्राह्मणों ने भी हिंदू धर्म के प्रचार में बहुत सहायता दी। जहाँ हिंदू धर्म को राजधर्म बनाने से बौद्ध धर्म की च्छति हुई वहाँ स्वयं बौद्ध धर्म में भी बहुत सी त्रुटियाँ आ गई थीं; उसके बहुत से संप्रदायों में विभक्त होने का उल्लेख पहले किया जा चुका है, छोटी छोटी बातों के कारण मत-भेद पैदा हो रहे थे। इसके अतिरिक्त बौद्ध भिक्षुओं में बाह्य आडंबर की अधिकता हो जाने के कारण भी जनता की उनपर से श्रद्धा उठती गई। अब बौद्ध भिक्षु वैसे सदाचारी और महात्मा न रहे थे। उनमें भी अधिकार-लिप्सा, धन-लिप्सा आदि दोष आ गए थे। वे मठों और विहारों में आराम से रहने लगे थे। उन्हें जनता के सुख-दुःखों का अधिक ध्यान न रहा था। इन सब बातों का बौद्ध धर्म पर बहुत घातक परिणाम हुआ। बौद्ध धर्म राज्य की सहायता पाकर जिस वेग से बढ़ा था उसी वेग से, राज्य की सहायता न पाने तथा अन्य उपर्युक्त बातों से, उसका पतन हुआ।

मौर्यवंश के अंतिम राजा बृहद्रथ के देहांत के साथ ही बौद्ध धर्म की अवनति का प्रारंभ हो चुका था। बृहद्रथ को मारकर उसका शृंगवंशी सेनापति पुष्यमित्र मौर्य-साम्राज्य का स्वामी बन गया। उसने फिर वैदिक धर्म का पक्ष ग्रहण कर दो अश्वमेध यज्ञ किए। संभवतः उसने बौद्धों पर अत्याचार भी किया, ऐसा बौद्ध ग्रंथों से पाया जाता है। वस्तुतः यहीं से बौद्ध धर्म की अवनति प्रारंभ होती है। उसी काल में राजपूताने में मध्यमिका (नगरी) के राजा पाराशरीपुत्र सर्वतात ने भी अश्वमेध यज्ञ किया। ऐसे ही दक्षिण में आंध्र (सातवाहन) वंशी वैदिश्री शातकर्णी के समय में अश्वमेध, राजसूय, दशरात्र आदि यज्ञ हुए। इसी तरह गुप्तवंशी समुद्रगुप्त और वाकाटकवंशियों के समय में भी अश्वमेध आदि कई यज्ञ हुए, जैसा कि उनके समय के शिलालेखादि से पाया जाता है। इस

प्रकार मौर्य-साम्राज्य के अंत से वैदिक धर्म की उन्नति के साथ साथ बौद्ध धर्म का हास होने लगा । फिर वह क्रमशः अवनत होता ही गया । हुएन्त्संग के यात्रा-विवरण से पाया जाता है कि उसके समय अर्थात् सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वैदिकधर्मावलंबियों की संख्या बढ़ने और बौद्धों की घटने लगी थी । बाणभट्ट के कथन से पाया जाता है कि शानेश्वर के वैसवंशी राजा प्रभाकरवर्द्धन के ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन ने अपने पिता का देहांत होने पर राज्यसुख को छोड़कर भदंत (बौद्ध भिक्षुक) होने की इच्छा प्रकट की थी और ऐसा ही विचार उसके छोटे भाई हर्ष का भी था, जो कई कारणों से फलीभूत न हो सका । हर्ष भी बौद्ध धर्म की ओर बढ़ी रुचि रखता था । इन बातों से निश्चित है कि सातवीं शताब्दी में राजवंशियों में भी, वैदिक धर्म के अनुयायी होने पर भी, बौद्ध धर्म की ओर सद्भाव अवश्य था । वि० सं० ८४७ (ई० स० ७६०) के शेरगढ़ (कोटा राज्य) के शिलालेख से पाया जाता है कि नागवंशी देवदत्त ने कोशवर्द्धन पर्वत के पूर्व में एक बौद्ध मंदिर और मठ बनवाया था, जिससे अनुमान होता है कि वह बौद्ध धर्मावलंबी था । ई० सन् की बारहवीं शताब्दी के अंत तक मगध और बंगाल को छोड़कर भारतवर्ष के प्रायः सभी विभागों में बौद्ध धर्म नष्टप्राय हो चुका था और वैदिक धर्म ने उसका स्थान ले लिया था ।

जैन धर्म

जैन धर्म भी बौद्ध धर्म से कुछ पूर्व भारतवर्ष में प्रादुर्भूत हुआ । महावीर का निर्वाण गौतम बुद्ध से पूर्व हो चुका था । उस समय के वैदिक धर्म के मुख्य सिद्धांत ये थे ।

जैन धर्म की उत्पत्ति और उस समय का हिंदू धर्म

१-वेद ईश्वरीय ज्ञान है ।

२-वैदिक देवताओं-इन्द्र, वरुण आदि-की पूजा ।

३-यज्ञों में पशुहिंसा ।

४-वर्णव्यवस्था ।

५-आश्रमव्यवस्था ।

६-आत्मा और परमात्मा का सिद्धांत ।

७-कर्मफल और पुनर्जन्म का सिद्धांत ।

महावीर तथा बुद्ध ने उपर्युक्त पहले पांच सिद्धांतों को अस्वीकार किया । महावीर ने केवल दो आश्रम—वानप्रस्थ और संन्यास—माने, जब कि बुद्ध ने केवल संन्यासाश्रम पर ही जोर दिया । परमात्मा को महावीर ने स्वीकार न किया और बुद्ध ने भी इस पर कोई विचार न किया । बौद्ध धर्म के विषय में हम ऊपर लिख आए हैं इसलिये यहाँ केवल जैन धर्म और उसकी प्रगति पर कुछ प्रकाश डालने का यत्न करेंगे ।

जैनों के कथनानुसार महावीर २४वें तीर्थंकर थे । उनसे पूर्व २३ तीर्थंकर हो चुके थे । संभवतः यह कल्पना बौद्धों के २४ बुद्धों की कल्पना का अनुकरण हो, अथवा बौद्धों ने जैनों से यह ली हो । महावीर राजा सिद्धार्थ क्षत्रिय के पुत्र वैशाली में उत्पन्न हुए; उन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली और बारह वर्ष तक छद्मवेश में रहकर कठिन तपस्या की । उसके बाद उन्होंने अपने मत का प्रचार प्रारंभ किया और ७२ वर्ष की अवस्था में उनका निर्वाण हुआ ।

जैन धर्म के मुख्य सिद्धांत ये हैं : जैन धर्मावलंबी जीव, अजीव, आश्रव (मन, वचन और शरीर का व्यापार एवं शुभाशुभ के बंध का हेतु), संवर (आश्रव का रोकनेवाला), जैन धर्म के मुख्य सिद्धांत बंध, निर्जरा (बंधकर्मों का क्षय), मोक्ष, पुण्य और पाप नौ तत्त्व मानते हैं । जीव अनादि और अनेक है । जीव अर्थात् चैतन्य आत्मा कर्म का कर्ता और फल का भोक्ता है । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति यह सब व्यक्त और अव्यक्त रूप से

चैतन्य गुणवाले हैं। काल, स्वभाव, नियति, कर्म और उद्यम उत्पत्ति के मुख्य कारण हैं। इन्हीं पाँच निमित्तों से परमाणु (पुद्गल) नियमपूर्वक आपस में मिलते हैं, जिससे जगत् की प्रवृत्ति होती है और यही कर्म के फल देते हैं। जीव के साथ कर्मों का संयोग रहने से उनके भोग के वास्ते वह बार बार शरीर धारण करता है। जीव सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र द्वारा कर्मों के बंधन से छूटकर अपने रूप में स्थित होता है। ये तीनों जैन धर्म के रत्न हैं। मुक्ति का मुख्य साधन केवल ज्ञान है। शरीर छोड़ने के बाद मुक्त चौसठ हजार योजन लंबी शिला पर अधर में स्थित होकर सदा अपने ही ज्ञान में लोकालोक देखता हुआ आनंद से रहता है। जैन लोग सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर को नहीं मानते। उनके मतानुसार यह सृष्टि अनादि और अनंत है। प्रलय होने के समय वैताह्य पर्वत में सब प्रकार के जीवों के जोड़े रह जाते हैं, उन्हीं से फिर सृष्टि का प्रारंभ होता है। रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द और क्रिया से रहित अतींद्रिय, अविनाशी, अनुपाधि, अवंध, अक्लेशी, अमूर्ति, शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा ही निश्चय देव है। इससे पृथक् कोई ईश्वर नहीं। आत्मस्वरूप का यथार्थ बोध करनेवाला मनुष्य ईश्वरपद को प्राप्त हो जाता है। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के साथ पंच महाव्रत (अहिंसा, सत्य-भाषण, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) तथा क्षमा, निरभिमानता, वृष्णात्याग, तप, संयम, सत्य, शौच, अकिंचन और ब्रह्मचर्य आदि श्रमणधर्मों का पालन करनेवाला गुरु होता है। दया और अहिंसा जैनों का मुख्य धर्म है; वे वेदों को नहीं मानते। उनमें व्रत उपवास और तपस्या का विशेष महत्त्व है। कई देवी देवताओं को भी जैनी मानते हैं। कई साधुओं आदि के अन्तर्धान व्रत से प्राण छोड़ने के उदाहरण भी मिले हैं*।

बौद्ध धर्म और जैन धर्म में बहुत सी समानताओं को देखकर कुछ यूरोपीय विद्वानों ने संदेह किया है कि ये धर्म एक ही स्रोत

से निकले हैं और बुद्ध महावीर का शिष्य था।
 बौद्ध और जैन धर्म का पार्थक्य पीछे से यह दो मतों में बंट गया। वस्तुतः

यह ठीक नहीं है। दोनों धर्म भिन्न भिन्न हैं। अशोक के एक धर्म-लेख में निर्मर्थों (जैनो) और आजीवकों के लिये धर्ममहामातृकों को नियुक्त करने का उल्लेख मिलता है। स्वयं बुद्ध गृह-स्वाश्रम छोड़ने के बाद ऐसे साधुओं के साथ रहे थे, जो तपोमय जीवन व्यतीत करते थे। संभवतः ये जैन होंगे और इन्हीं के संग में रहकर बुद्ध ने इनकी बहुत सी बातों का बौद्ध धर्म में समावेश कर लिया हो।

बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म भी दो मुख्य विभागों—दिगंबर और श्वेतांबर—में विभक्त हो गया। दिगंबर साधु नग्न रहते हैं और

श्वेतांबर सफेद या पीले कपड़े पहनते हैं। इन जैन धर्म के संप्रदाय दोनों शाखाओं के सिद्धांतों में विशेष मतभेद नहीं है। दिगंबर स्त्री का मोच होना नहीं मानते और श्वेतांबर मानते हैं। दिगंबर तीर्थंकरों की प्रतिमा पूजते हैं, परंतु श्वेतांबरों की तरह पुष्प, धूप और वस्त्राभूषण से पूजा नहीं करते। उनका कहना है कि तीर्थंकर बीत-राग थे, फिर इस प्रकार रागयुक्त द्रव्यादि से सेवा कर उनको सरागी बनाना महापाप है। यह भेद कब हुआ, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

यद्यपि बौद्ध मत की अपेक्षा जैन मत का प्रादुर्भाव पहले हुआ था, तथापि उसका बौद्ध धर्म के समान प्रचार नहीं हुआ। इसके कई

कारण हैं। बौद्ध मत के सिद्धांत शीघ्र ही जैन धर्म का अधिक प्राकृत भाषा में लिखे गए और जैन-सिद्धांत प्रचार न होने के कारण दीर्घ काल तक ग्रंथरूप में परिणत नहीं किए गए। ऐसा माना जाता है कि ई० सन् की पाँचवीं शताब्दी

के मध्य में देवर्धिगणि चमाश्रमण ने बलभी की धर्मपरिषद् में उनके धर्मग्रंथों को लिपिवद्ध कराया। बौद्ध भिक्षुओं का जीवन जैन साधुओं की अपेक्षा अधिक सरल और कम कठोर एवं तपस्यामय होता था, जिससे भी लोगों का आकर्षण बौद्ध मत की ओर अधिक हुआ। फिर जैन धर्म को राजधर्म बनाकर उसका प्रचार करनेवाले राजा कम मिले, जैसे कि बौद्ध धर्म को अशोक और कनिष्क आदि मिले थे। केवल कलिंग के राजा खासवेल ने, जो ई० सन् की दूसरी शताब्दी के आस-पास हुआ था, जैन धर्म को स्वीकार कर उसकी कुछ उन्नति की। इन कारणों से जैन धर्म का प्रचार बहुत शनैः शनैः हुआ*।

हमारे निर्दिष्ट काल में जैन धर्म का प्रचार आंध्र, तामिल, कर्नाटक, राजपूताना, गुजरात, मालवा तथा बिहार और उड़ीसे के कुछ भाग में था। दक्षिण में ही जैनों ने अपने जैन धर्म की उन्नति और अवनति मत का विशेष प्रचार किया। वहाँ वे संस्कृत भाषा के शब्दों का बहुत प्रयोग करते थे जिसका परिणाम यह हुआ कि दक्षिण की तामिल, आंध्र आदि भाषाओं में संस्कृत के बहुत से शब्द मिल गए। जैनों ने वहाँ पाठशालाएँ भी खोलीं। आज भी वहाँ बालकों की वर्णमाला सिखाते समय पहला वाक्य 'ॐ नमः सिद्धम्', पढ़ाया जाता है, जो जैनों की नमस्कार-विधि है। दक्षिण में कई राजाओं ने जैन धर्म को आश्रय दिया। तामिल प्रदेश में पांड्य और चोल राजाओं ने जैन गुरुओं को दान दिए, उनके लिये मदुरा के पास मंदिर और मठ बनवाए। शनैः शनैः जैनों में भी मूर्तिपूजा का प्रचार बढ़ा और तीर्थकरों की मूर्तियाँ बनने लगीं। हमारे निर्दिष्ट समय के मध्य काल से इस धर्म का उधर हास होना भी प्रारंभ हो गया।

* सी० बी० वैद्य; हिस्ट्री आफ़ मीडिपुवल इंडिया; जिल्द ३, पृष्ठ ४०२-६।

शैव-मत के प्रचारकों ने वहाँ जैन धर्म को बहुत क्षति पहुँचाई। चोल राजाओं ने, जो पीछे शिव के भक्त हो गए थे, जैन धर्म को वहाँ से उठाने के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया। राजराज चोल ने मदुरा के मंदिर में बहुत से शैव साधुओं की प्रतिमाएँ बनवाकर रखवाईं। कर्नाटक में पहले चालुक्यों ने जैन धर्म को बहुत सहायता पहुँचाई थी और दक्षिण के राष्ट्रकूटों के समय (ई० स० ८००—१०००) में जैन धर्म बहुत उन्नत हुआ था। पिछले चालुक्य राजाओं ने (ई० स० १०००—१२००) शैव धर्म स्वीकार कर जैन धर्म को वहाँ से उठाने का प्रयत्न किया। जैन प्रतिमाएँ उठाकर वहाँ पौराणिक देवताओं की प्रतिमाएँ फिर से रखी गईं। तुंगभद्रा से परे के कर्नाटक प्रदेश में गंगवंशी राजा जैन थे। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में चोल राजाओं ने गंगवंशी राजा का परास्त कर दिया। शनैः शनैः होयसल राजाओं ने गंगवाडि पर अधिकार कर लिया। वे भी पहले जैन थे, परंतु रामानुज ने विष्णुवर्धन को वैष्णव बनाकर मैसूर में वैष्णव मत का प्रचार प्रारंभ कर दिया। इस तरह प्रायः संपूर्ण दक्षिण में जैन धर्म क्रमशः क्षीण होता गया। इस अवनति के मुख्य कारण शैव मत का प्रचार और वहाँ के राजाओं का जैनियों पर अत्याचार ही थे। उड़ीसा में भी शैव मत ने आकर उसके पैर उखाड़ दिए। वहाँ के राजाओं ने जैन धर्म पर अत्याचार कर उसे नष्ट कर दिया*।

जब दक्षिण में जैन धर्म का इस तरह हास हो रहा था, पश्चिम में वह बढ़ने और समृद्ध होने लगा। राजपूताना, मालवा और गुजरात में यह धर्म बहुत बढ़ने लगा, यद्यपि इन प्रदेशों के राजा भी शैव थे। जैन आचार्य हेमचंद्र जैन धर्म की इस वृद्धि का मुख्य कारण था। हेमचंद्र गुजरात में एक श्वेतांबर वैश्य के यहाँ १०८४

* सी० बी० वैद्य, हिस्ट्री आफ़ मीडिएवल इंडिया; जिल्द ३, पृ० ४०६-१०।

ई० में उत्पन्न हुआ था। पढ़-लिखकर वह अनहिलवाड़ा के जैन उपाश्रय का आचार्य हुआ। वह संस्कृत और प्राकृत का बड़ा भारी विद्वान् था। उसने द्वागश्रयमहाकाव्य, देशीनाममाला, संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण आदि अनेक ग्रंथ लिखे। गुजरात के राजा जयसिंह (सिद्धराज) और कुमारपाल पर उसका बहुत प्रभाव था। कुमारपाल ने जैन धर्म स्वीकार कर उसकी उन्नति के लिये बहुत प्रयत्न किया, जिससे गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, राजपूताना और मालवे में जैन धर्म का प्रचार बहुत हुआ।

इन प्रदेशों के अतिरिक्त शेष भारत में जैन धर्म का प्रचार नहीं के बराबर हुआ। पीछे से कहीं कहीं मारवाड़ी व्यापारियों ने जैन-मंदिर जरूर बनवाए हैं, परंतु जैन धर्म के अनुयायी बहुत घोड़े ही रह गए हैं।

ब्राह्मण धर्म

भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल से वैदिक धर्म प्रचलित था। ईश्वर की उपासना, यज्ञ करना तथा वर्णव्यवस्था आदि इसके मुख्य अंग थे। यज्ञ में पशु-हिंसा भी होती थी। प्राचीन ब्राह्मण धर्म ईश्वर की उपासना उसके भिन्न भिन्न नामों के अनुसार भिन्न भिन्न रूप में होती थी। प्रायः सारे भारतवर्ष में वैदिक धर्म का प्रचार था। बौद्ध धर्म की उन्नति के समय में उसे राज्य की सहायता मिलने के कारण हिंदू धर्म का प्रचार शनैः शनैः कम होता गया, और जैन धर्म ने भी इसे कुछ हानि पहुँचाई। बौद्ध और जैन धर्मों की उन्नति के समय में भी वैदिक धर्म या हिंदू धर्म क्षीण तो हुआ, परंतु नष्ट नहीं हुआ। ज्योंही बौद्ध धर्म का प्रभाव कम होने लगा त्योंही हिंदू धर्म ने बहुत वेग से उन्नति आरंभ की और वह बहुत विकसित तथा पल्लवित होने लगा।

बौद्ध धर्म से ही हिंदूधर्मावलंबियों ने बहुत सी बातें सीखीं। उपास्य-
 देवों की पूजा के लिये उनकी मूर्तियों की कल्पना हुई। मूर्तिपूजा
 कब से प्रचलित हुई, यह नहीं कहा जा
 ब्राह्मण धर्म में मूर्ति-सकता। सबसे प्रथम ई० पूर्व २०० के नगरी
 पूजा का प्रचार के शिलालेख में संकर्षण और वासुदेव की मूर्ति-
 पूजा के लिये मंदिर बनाने का उल्लेख मिलता है। यह मूर्तिपूजा
 का सबसे प्राचीन लिखित उदाहरण है। इससे ज्ञात होता है कि
 यह प्रथा उससे बहुत पहले प्रचलित हो चुकी थी। हिंदू धर्म का
 ज्यों ज्यों पुनः प्रचार बढ़ता गया त्यों त्यों उसमें भिन्न भिन्न आचार्यों
 ने धार्मिक संप्रदाय भी बनाने शुरू किए। सबसे पहले हम वैष्णव
 संप्रदाय पर कुछ विचार करेंगे।

भगवद्गीता के विराट् रूप के वर्णन को लक्ष्य में रखकर सात्वतों
 (यादवों) ने वासुदेव की भक्ति के प्रचार के लिये उनकी उपासना चलाई,
 जो सात्वत या भागवत संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध
 वैष्णव संप्रदाय का उद्भव हुई। लोगों में कर्मकांड और बड़े यज्ञों से घृणा
 उत्पन्न हो गई थी। इसलिये उन्होंने इस भक्तिमार्ग को बहुत पसंद
 किया। भक्तिमार्ग का प्रचार देने पर समय पाकर विष्णु की मूर्तियाँ
 भी बनने लगीं, इसका काल अनिश्चित है; परंतु नगरी के उपर्युक्त
 शिलालेख में, जो ई० पूर्व २०० का है, संकर्षण और वासुदेव की
 पूजा के लिये शिलाप्राकार बनाने का उल्लेख है। इससे पहले मूर्ति
 का उल्लेख शिलालेखों में नहीं मिलता। तो भी इसी सन् पूर्व की
 चौथी शताब्दी का लेखक मेगास्थनीज मथुरा के शूरसेनी यादवों के
 संबंध में हैरिक्लिस् (हरिकृष्ण, वासुदेव) की पूजा का उल्लेख करता
 है। पाणिनि ने भी अपने सूत्रों में वासुदेव के नाम का उल्लेख किया
 है, जिस पर टोका करते हुए पतंजलि ने वासुदेव को आराध्य देवता
 कहा है। अनुमान होता है कि पाणिनि के समय (ई० पूर्व ६००) में



(२) दोगडावी विन्तु (नारायण)
[त्रिवेदम्]



भी वासुदेव की पूजा प्रचलित हो चुकी थी अतः भागवत संप्रदाय तथा मूर्ति-पूजा उससे भी प्राचीन होगी* ।

वैष्णव संप्रदाय ने वैदिक धर्म के यज्ञ यागादि नहीं छोड़े । इस संप्रदाय के लोग भी अश्वमेधादि बड़े बड़े यज्ञ करते रहे, जिनमें पशुहिंसा होती रही । पीछे से वैष्णवों ने बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर अहिंसा को प्रधानता दी । भागवत संप्रदाय का मुख्य ग्रंथ

पंचरात्र संहिता है । इस संप्रदायवाले अभिगमन (मंदिरों में जाना), उपादान (पूजा की सामग्री एकत्र करना), इत्या (पूजा), स्वाध्याय (मंत्रों का पढ़ना) और योग से भगवान् का साक्षात्कार होना मानते थे । फिर वैष्णवों ने विष्णु के चौबीस अवतारों—ब्रह्मा, नारद, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभदेव, पृथु, मत्स्य, कूर्म, धन्वंतरि मोहिनी, नृसिंह, वामन, परशुराम, वेदव्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि, हंस और हयग्रीव—की कल्पना की; जिनमें से दस अवतार—मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि—मुख्य माने गए । बुद्ध और ऋषभ को हिंदुओं के अवतारों में स्थान देने से निश्चित है कि बौद्ध और जैन धर्म का प्रभाव हिंदू धर्म पर पड़ गया था, और इसलिये उनके प्रवर्तक विष्णु के अवतारों में सम्मिलित किए गए । संभव है कि चौबीस अवतारों की यह कल्पना भी बौद्धों के २४ बुद्ध और जैनों के २४ तीर्थंकरों की कल्पना के अनुकरण पर हुई हो । विष्णु के मंदिर ई० सन् पूर्व २०० से लेकर हमारे निर्दिष्ट काल तक ही नहीं, अब तक बराबर बन रहे हैं । शिलालेखों, ताम्रपत्रों एवं प्राचीन ग्रंथों में विष्णु-पूजकों का वर्णन मिलता है । दक्षिण में भागवत संप्रदाय का

* सर रामकृष्ण गोपाल मांडारकरकृत वैष्णवविजय, शंविजय एंड अदर माइन्स रिक्लिजस सिस्टम्स; पृष्ठ ८-१० ।

प्रचार नवीं शताब्दी के आसपास हुआ और उधर के आलवार राजा कृष्ण के परम भक्त थे। पीछे से आलवार भी राम के भक्त होने लग गए। यह आश्चर्य की बात है कि राम के विष्णु के अवतार होते हुए भी दसवीं शताब्दी तक उनके मंदिरों या मूर्तियों के होने का कहीं पता नहीं लगता; और कृष्ण के समान राम की भक्ति प्राचीन काल में रही हो, ऐसा नहीं पाया जाता। पीछे से राम की भी पूजा होने लगी और राम-नवमी आदि त्यौहार मनाए जाने लगे*।

शंकराचार्य के अद्वैतवाद के प्रचार से भक्ति-मार्ग को गहरा धक्का लगा। आत्मा और ब्रह्म में एकता होने पर किसी की भक्ति

रामानुजाचार्य का
विशिष्टाद्वैत संप्रदाय
की आवश्यकता न रही, इसलिये रामानुज ने, जिसका जन्म १०१६ ई० में हुआ, भक्ति-मार्ग का प्रचार करने के लिये अद्वैतवाद का खंडन करना प्रारंभ किया। उस समय के चोल राजा ने, जो शैव था, रामानुज की वैष्णव धर्म में भक्ति देखकर उसे सताया, जिससे वह भागकर द्वारसमुद्र के यादवों के पास पहुँचा और वहीं उसने अपना कार्य आरंभ किया। फिर मैसूर के राजा विष्णुवर्द्धन को वैष्णव बनाकर वह दक्षिण में अपना प्रचार करने लगा। उसने लोगों को बताया कि भक्तिमार्ग के लिये ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों की आवश्यकता है। यज्ञ, व्रत, तीर्थयात्रा, दान आदि से आत्मा की शुद्धि होती है। ज्ञानयोग भक्ति की ओर ले जाता है और भक्ति से ईश्वर का साक्षात्कार होता है। जीवात्मा और जगत् दोनों ब्रह्म से भिन्न होने पर भी वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। सिद्धांत में ये एक ही हैं, परंतु कार्यरूप में एक दूसरे से भिन्न और विशिष्ट गुणों से युक्त हैं। इस संप्रदाय के विशेष दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन दर्शन

* सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकरकृत; वैष्णविज्म, शैविज्म एंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम्स; पृ० १३—५७।

के संबंध में किया जायगा । रामानुज के इस संप्रदाय का प्रचार दक्षिण में अधिक और उत्तर में कम हुआ* ।

ग्यारहवीं सदी और उसके पीछे के वैष्णव आचार्यों का मुख्य उद्देश्य अद्वैतवाद को दूर करके भक्ति संप्रदाय स्थापित करना था ।

यद्यपि रामानुज ने विशिष्टाद्वैत संप्रदाय चला-
मध्वाचार्य और इनका संप्रदाय

कर शंकर के अद्वैत के प्रभाव को नष्ट करने का प्रयत्न किया, तथापि वह उसमें पूर्णतया सफल न हुआ । विशिष्टाद्वैत के सिद्धांतों से ब्रह्म और जीव में परस्पर भेद सिद्ध न हुआ, इसलिये बारह-वीं शताब्दी के वैष्णव आचार्य मध्वाचार्य को विशिष्टाद्वैत संतुष्ट न कर सका । उसने परमात्मा, आत्मा और प्रकृति तीनोंको भिन्न मानकर अपने नाम से 'मध्व' संप्रदाय चलाया । इसके दार्शनिक सिद्धांतों का परिचय हम दर्शन के प्रकरण में देंगे । मध्वाचार्य का जन्म शक संवत् १११६ (ई० स० ११८७) में हुआ था । उसने भी वेदांत-दर्शन और उपनिषदों का अपने सिद्धांतों के अनुकूल भाष्य किया । किसी प्रामाणिक ग्रंथ का आश्रय लिये बिना सफलता का मिलना कठिन था, इसलिये रामायणवर्णित राम और सीता की मूर्तियों की पूजा पर उसने जोर दिया और अपने शिष्य नरहरितीर्थ को जगन्नाथ (उड़ीसा) में राम और सीता की मूर्तियाँ लाने को भेजा । नरहरितीर्थ के अतिरिक्त उसके प्रमुख शिष्य पद्मनाभतीर्थ, माधवतीर्थ और अक्षोभ्यतीर्थ थे । मध्व संप्रदायवाले वैराग्य, शम, शरणागति (ईश्वर के शरण में अपने को सौंप देना), गुरुसेवा, गुरुमुख से अध्ययन, परमात्मभक्ति, अपने से बड़ों में भक्ति, समवयस्कों में प्रेम और अपने से छोटों पर दया, यज्ञ, संस्कार, सब कार्य हरि के समर्पण करना तथा उपासना आदि अनेक साधनों से मोक्ष की प्राप्ति

* सर रामकृष्ण गोपाल मंडारकरकृत; वैष्णविज्ज, शैविज्ज एंड अदर माइनर रिलिजिअस लिस्टम्स; पृ० २१-२७ ।

मानते हैं। मध्व के अनुयायी मस्तक पर दो सफेद सीधी रेखाएँ डालकर बीच में एक काली रेखा खींचते हैं और मध्य में लाल बिंदु लगाते हैं। इनके वस्त्रों पर भी बहुधा शंख, चक्र, गदा आदि के चित्र अंकित होते हैं। इस संप्रदाय का प्रचार दक्षिणी कर्नाटक में अधिक है। मध्वाचार्य के बाद भी वैष्णवों में वल्लभ आदि संप्रदायों का उदय हुआ, परंतु वे हमारे समय से पीछे के हैं*।

विष्णु की मूर्ति पहले चतुर्भुज होती थी या द्विभुज, इसका ठीक निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि पाँचवीं शताब्दी के पूर्व की विष्णु की मूर्ति बनी हुई उनकी कोई मूर्ति नहीं मिली। बुद्ध और सूर्य की सब मूर्तियाँ द्विभुज मिलती हैं और कडफिसिस के पहली शताब्दी के सिक्के पर बैल के पास खड़ी हुई त्रिशूलधारी शिव की मूर्ति बनी है, जो बुद्ध के समान द्विभुज ही है। जैसे हिंदुओं ने बुद्धावतार की मूर्ति को चतुर्भुज बना दिया वैसे ही विष्णु और शिव की मूर्तियाँ पीछे से चतुर्भुज बनी हों तो कोई आश्चर्य नहीं। भिन्न भिन्न प्रकार की मूर्तियों के बनने के प्रवाह में विष्णु की चौदह और चौबीस हाथवाली मूर्तियों की कल्पना भी की गई और उनके हाथों में भिन्न भिन्न आयुध दिए गए। ऐसी भी कुछ मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। विष्णु की त्रिमूर्तियाँ तीन मुखवाली भी मिली हैं, जिनमें या तो किरीट सहित विष्णु के तीन मुख प्रदर्शित किए गए या मध्य में विष्णु और दोनों ओर क्रमशः बराह और नृसिंह की मूर्तियाँ बनाई गईं। शायद ये मूर्तियाँ शिव की त्रिमूर्ति का अनुकरण हों।

विष्णु के समान शिव की भी उपासना और पूजा शुरू हुई और उसके उपासक उसी को सृष्टि का कर्ता धर्ता और हर्ता मानने लगे। इस संप्रदाय के ग्रंथ 'आगम' नाम से प्रसिद्ध हुए। इस मत को

* सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर-रचित; वैष्णवविजय, शैविज्म एवं अद्वैत माहानंदर रिजिजस सिस्टम्स; पृ० २७—६१।



(३) विष्णु की चौदह हाथवाली मूर्ति
[राजपूताना म्यूजियम, अजमेर]







(४) विष्णु की त्रिमूर्ति
[राजपूताना म्यूजियम्, अजमेर]





(५) शिव की त्रिमूर्ति
[घाटापुरी]

माननेवाले भिन्न भिन्न प्रकार की शिव की मूर्तियाँ बनाने और पूजने लगे । वे शिव की मूर्ति के या तो छोटे स्तंभ की आकृति का गोल

शैव संप्रदाय

लिंग, या ऊपर का भाग गोल और चारों तरफ चार मुख बनाने लगे । ऊपर का भाग विश्व या

ब्रह्मांड का सूचक और चारों तरफ के मुखों में से पूर्ववाला सूर्य का, उत्तरवाला ब्रह्मा का, पश्चिमवाला विष्णु का और दक्षिणवाला रुद्र का सूचक होता था । कुछ मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं, जिनके चारों ओर मुख नहीं, किंतु इन चारों देवताओं की मूर्तियाँ ही बनी हुई हैं । कुछ ऐसी मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं, जिनमें ऊपर तो चारों मुख हैं और नीचे उनके सूचक देवताओं की खड़ी मूर्तियाँ बनी हैं । इन मूर्तियों को देखने से अनुमान होता है कि उनके बनानेवालों का यही मंतव्य होगा कि जगत् का निर्माता शिव और ये चारों देवता उसी के नाम के भिन्न भिन्न रूप हैं । शिव की विशालकाय त्रिमूर्ति भी कहीं कहीं पाई जाती है । उसके छः हाथ, जटा सहित तीन सिर और तीन मुख होते हैं, जिनमें से एक रोता हुआ होता है, जो शिव के रुद्र कहलाने का सूचक है । उसके मध्य के दो हाथों में से एक में बीजोरा तथा दूसरे में माला, दाहिनी तरफ के दो हाथों में से एक में सर्प और दूसरे में स्वर्ण और बाईं ओर के दो हाथों में से एक में पतले दंड सी कोई वस्तु और दूसरे में ढाल या काच की आकृति का कोई छोटा सा गोल पदार्थ होता है । त्रिमूर्ति वेदी के ऊपर दीवार से सटी रहती है और उसमें छाती से कुछ नीचे तक का ही हिस्सा होता है । त्रिमूर्ति के सामने भूमि पर बहुधा शिवलिंग होता है । ऐसी त्रिमूर्तियाँ बंबई से ६ मील दूर के घारापुरी (Elephanta) नामक टापू, चित्तौड़ के किले, सिरोही राज्य आदि कई स्थानों में देखने में आई हैं, जिनमें सबसे पुरानी घारापुरीवाली है । शिव के ताण्डव-नृत्य की पाषाण या धातु की मूर्तियाँ भी कई जगह मिली हैं

शैव संप्रदाय सामान्य रूप से पाशुपत संप्रदाय कहलाता था, फिर उसमें लकुलीश संप्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ, जिसकी उत्पत्ति के संबंध में ई० स० ८७१ के शिलालेख में लिखा है कि पहले भड़ौच में विष्णु ने भृगु मुनि को शाप दिया, तो भृगु ने शिव की आराधना कर उनको प्रसन्न किया। इस पर उसके

शैव संप्रदाय की
भिन्न भिन्न शाखाएँ और
उनके सिद्धांत

सम्मुख हाथ में लकुट (डंडा) लिए हुए शिव का कायावतार हुआ। हाथ में लकुट लिए होने से वह लकुटेश (लकुलीश अथवा नकुलीश) कहलाया और जिस स्थान में वह अवतार हुआ, वह कायावतार (कारवान, बड़ौदा राज्य में) कहलाया, और लकुलीशों का मुख्य स्थान समझा गया। लकुलीश की कई मूर्तियाँ राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़, दक्षिण (मैसूर तक), बंगाल और उड़ीसा में पाई जाती हैं, जिससे ज्ञात होता है कि यह संप्रदाय बहुधा सारे भारत-वर्ष में फैल चुका था। उस मूर्ति के सिर पर बहुधा जैन मूर्तियों के समान केश होते हैं, वह द्विभुज होती है, उसके दाहिने हाथ में बाजोरा और बाएँ में लकुट होता है। वह मूर्ति पद्मासन बैठी हुई होती है। लकुलीश के ऊर्ध्वरेता होने का चिह्न (ऊर्ध्वलिंग) मूर्ति में बना रहता है।

लकुलीश के चार शिष्यों—कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य—के नाम लिंग पुराण (२४—१३१) में मिलते हैं, जिनके नाम से चार शैव उपसंप्रदाय चले। आज लकुलीश संप्रदाय को मानने-वाला कोई नहीं रहा और अब सर्वसाधारण में से भी बहुत थोड़े से लोग लकुलीश नाम से परिचित हैं। पाशुपत संप्रदाय के लोग महादेव को ही सृष्टि का कर्ता, धर्ता और हर्ता समझते हैं। योगाभ्यास और भस्मस्नान को वे आवश्यक समझते हैं और मोक्ष को मानते हैं। ये छः प्रकार की—दास, गान, नर्तन, दुहुक्कार (बैल



(६) लकुडीश (लकुडीश) की मूर्ति
[राजपूताना म्यूजियम, अजमेर]



की तरह आवाज करना), साष्टांग प्रणिपात और जपक्रियाएँ करते हैं । इसी तरह और भी बहुत सी क्रियाएँ हैं, जिन्हें इस संप्रदाय-वाले करते हैं । शैव संप्रदाय के लोगों का विश्वास है कि जीवों के कर्मानुसार शिव फल देता है । पशु या क्षेत्रज्ञ जीव, नित्य और अणु है । जब वह पाशों (माया का एक रूप) से छूट जाता है तब वह भी शिव हो जाता है, पर महाशिव की तरह स्वतंत्र नहीं होता । कर्म और पाश माया ही है । जप और योगसाधना आदि को भी ये मुख्य स्थान देते थे । शैवों के अन्य दो संप्रदायों—कापालिक और कालामुख—के अनुयायी शिव के भैरव और रुद्र रूप की उपासना करते हैं । इन दोनों में विशेष भेद नहीं है । इनके छः चिह्न—माला, भूषण, कुंडल, रत्न, भस्म और उपवीत—मुख्य हैं । इनका विश्वास है कि ऐसा करने से मनुष्य आवागमन के चक्कर से छूट जाता है । इस संप्रदाय के माननेवाले मनुष्य की खोपड़ी में खाते हैं, श्मशान की राख से शरीर मलते तथा उसे खाते भी हैं, एक डंडा और शराब का प्याला अपने पास रखते और पात्रस्थित देवता की पूजा करते हैं । इन बातों को वे इहलोक और परलोक में इच्छापूर्ति का साधन समझते हैं । 'शंकरदिग्विजय' में माधव ने शंकर के एक कापालिक से मिलने का उल्लेख किया है । वाण ने 'हर्षचरित' में भी एक भयंकर कापालिक आचार्य का वर्णन किया है । भवभूति ने 'मालतीमाधव' में खोपड़ियों की माला पहने हुए कपालकुंडला नाम की एक स्त्री का वर्णन किया है । इन दोनों संप्रदायों के साधुओं का जीवन बहुत भयंकर था । इस संप्रदाय के अनुयायी साधु ही होते थे, सामान्य जनता नहीं । अब तो इस संप्रदाय का अनुयायी शायद ही कोई हो ।

काश्मीर में भी शैवधर्म का प्रचार विशुद्ध रूप में था । वसुगुप्त ने इस संप्रदाय का मूल ग्रंथ 'स्पंदशास्त्र' लिखा, जिसकी टीका उसके

शिष्य कल्लट ने, जो अवन्तिवर्मा (८५४ ई०) के समय में था, स्पन्द-कारिका के नाम से की। इनका मुख्य सिद्धांत यह था कि परमात्मा मनुष्यों के कर्मफल की अपेक्षा न कर अपनी इच्छा से ही किसी सामग्री के बिना सृष्टि को पैदा करता है।

काश्मीर में सोमानंद ने दसवीं सदी में शैव संप्रदाय की एक शाखा—प्रत्यभिज्ञा संप्रदाय—का प्रचार किया। उसने 'शिवदृष्टि' नामक ग्रंथ लिखा। इसमें और प्रथम शाखा में अधिक भेद नहीं है।

जिस समय वैष्णवधर्म अहिंसा आदि को लिए हुए नए रूप में आंध्र और तामिल प्रदेश तथा पूर्व में शैव संप्रदाय के विरोध में फैल रहा था, उस समय कर्नाटक में एक नवीन शैव संप्रदाय का जन्म हुआ। कानड़ी भाषा के 'वसव पुराण' से पाया जाता है कि कलचुरि राजा विज्जल के समय (बारहवीं सदी) में वसव नामक ब्राह्मण ने जैनधर्म को नष्ट करने की इच्छा से लिंगायत (वीर शैव) मत चलाया। उसके गुणों को देखकर विज्जल ने उसे अपना मंत्री नियत किया और वह जंगमों (लिंगायत संप्रदाय के धर्मोपदेशकों) के लिये बहुत द्रव्य खर्च करने लगा। डाक्टर फ्लीट के कथनानुसार एकांत इस संप्रदाय का प्रवर्तक था, वसव तो इसका एक उत्तम प्रचारक मात्र था। ये जैनों के शत्रु थे और उनकी मूर्तियाँ फेंकवाते थे। इस संप्रदाय में अहिंसा को मुख्य स्थान दिया गया था। इसमें हिंदू समाज के प्रधान अंग वर्णव्यवस्था को कोई स्थान नहीं मिला और न संन्यास या तप को ही कोई मुख्यता प्राप्त हुई। वसव ने कहा कि प्रत्येक प्राणी को, चाहे वह जंगम ही क्यों न हो, अपने श्रम से कमाना चाहिए, न कि भीख माँगकर। उसने सदाचार पर भी बौद्धों और जैनों की अपेक्षा कम ध्यान नहीं दिया। भक्ति इस संप्रदाय की विशेषता थी। लिंग का चिह्न इस संप्रदाय का सबसे बड़ा चिह्न है। इस संप्रदाय के लोग अपने गले में शिवलिंग लटकाए रहते हैं।

जो चाँदी की डिविया में रहता है, क्योंकि इनका विश्वास है कि शिव ने अपने तत्त्व को लिंग और अंग में विभक्त कर दिया था। विशिष्टाद्वैत से इस संप्रदाय की कुछ समानता है। यह संप्रदाय वैदिक मत से बहुत बातों में भिन्न है। यज्ञोपवीत संस्कार की जगह वहाँ दीक्षा संस्कार होता है। गायत्री मंत्र की जगह वे 'ॐ नमः शिवाय' कहते हैं और यज्ञोपवीत की जगह गले में लिंग लटकाते हैं।

तामिल प्रदेश में भी शैव संप्रदाय का बहुत प्रचार हुआ। ये शैव, जैनों और बौद्धों के शत्रु थे। इनके धार्मिक साहित्य के ग्यारह संग्रह हैं, जो भिन्न भिन्न समय पर लिखे गए।

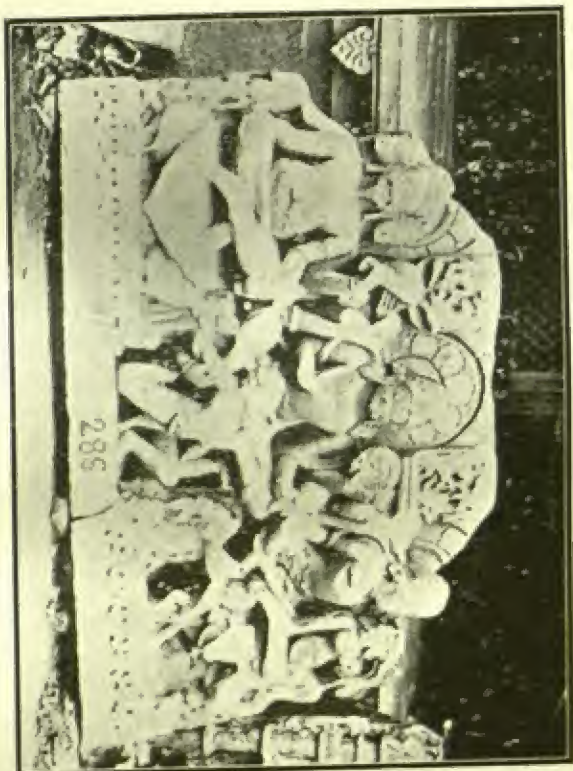
दक्षिण में शैव संप्रदाय का प्रचार सबसे अधिक प्रतिष्ठित लेखक विरुचानसंबंध हुआ, जिसकी मूर्ति तामिल प्रदेश के शैव मंदिरों में पूजा के लिये रखी जाती है। तामिल कवि और दार्शनिक अपने ग्रंथ के प्रारंभ में उसी के नाम से मंगलाचरण करते हैं। कांचीपुर के शैव मंदिर के शिलालेख से छठी सदी में शैवधर्म के दक्षिण में प्रचार होने का पता लगता है। पल्लव शासक राजसिंह ने, जो कि संभवतः ५५० ई० के आस पास हुआ था, राजसिंहेश्वर का शिवमंदिर बनवाया। यह निश्चित है कि इनके दार्शनिक सिद्धांत भी अवश्य विकसित थे क्योंकि राजसिंह के शैव सिद्धांतों में निपुण होने का उल्लेख शिलालेख में मिलता है, परंतु वे क्या थे, यह मालूम नहीं हो सका*।

ब्रह्मा सृष्टि का उत्पादक, यज्ञों का प्रवर्तक और विष्णु का एक अवतार माना जाता है। ब्रह्मा की मूर्ति चतुर्मुख होती है, परंतु जो मूर्ति दीवार से लगी होती है, उसके तीन मुख ही दिखाए जाते हैं और परिक्रमावाली मूर्ति के चारों मुख। ऐसी चतुर्मुख मूर्तियाँ

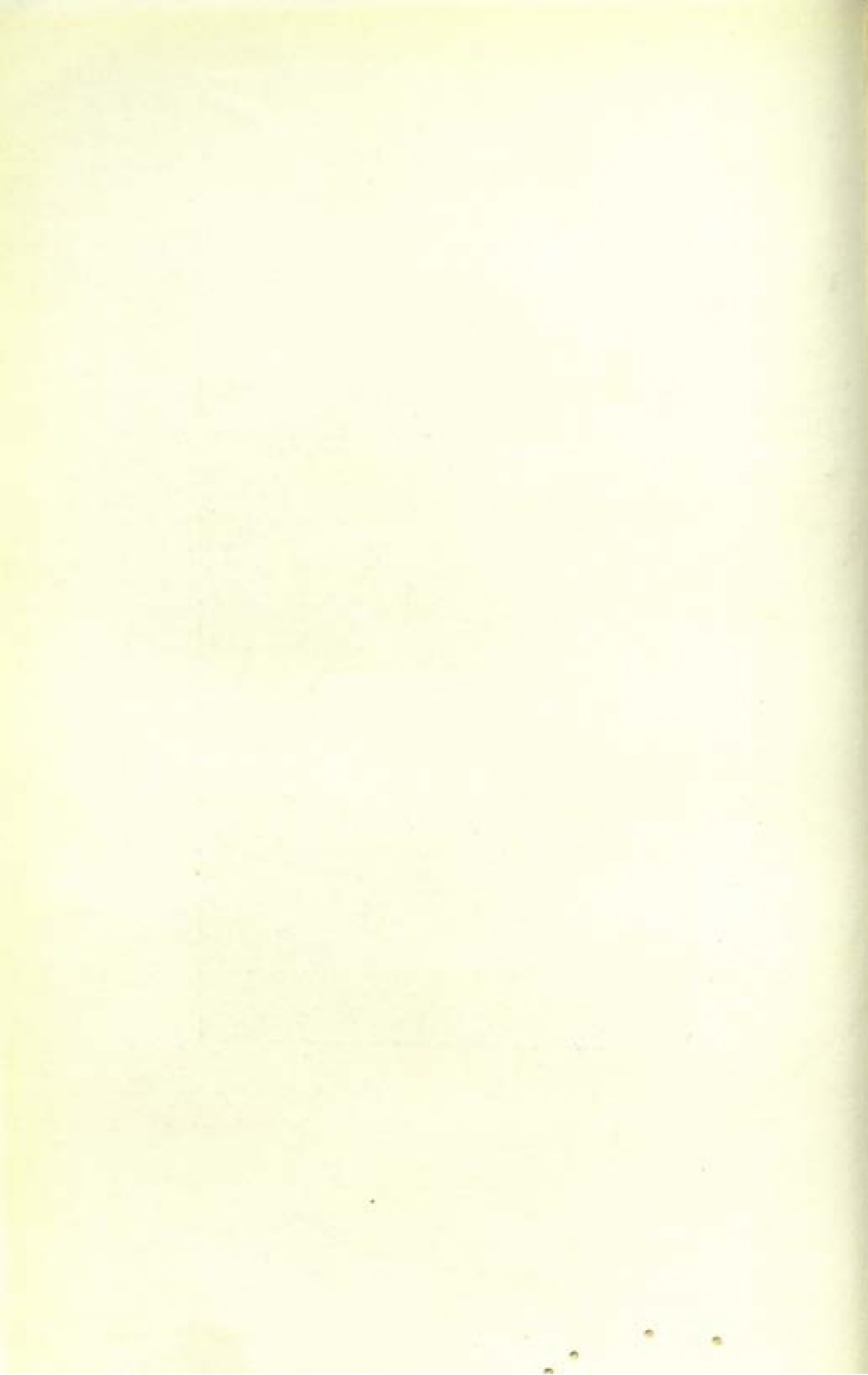
* सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकरकृत वैष्णविज्म शैविज्म एंड अदर माइनर रिजिजस सिस्टम्स; पृष्ठ ११५—१४२।

थोड़ी ही देखने में आई हैं। ब्रह्मा के कई मंदिर अब तक विद्यमान हैं, जिनमें पूजन भी होता है। ब्रह्मा के एक हाथ में सूत्र होता है, जो यज्ञकर्ता का सूचक है। शिव-पार्वती के ब्रह्मा की मूर्ति विवाहसूचक मूर्ति-समुदाय में, जो कई एक मिले हैं, ब्रह्मा पुरोहित बताया गया है। आश्चर्य की बात यह है कि जैसे विष्णु और शिव के भिन्न भिन्न संप्रदाय मिलते हैं, वैसे ब्रह्मा के संप्रदाय नहीं मिलते। मूर्ति-कल्पना में ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर तीनों एक ही परमात्मा के रूप माने गए हैं। ब्रह्मा की कई मूर्तियाँ ऐसी मिली हैं जिनके ऊपर के एक किनारे पर शिव और दूसरे पर विष्णु की छोटी छोटी मूर्तियाँ बनी हुई हैं। ऐसे ही विष्णु की मूर्तियों पर शिव और ब्रह्मा की और शिव की मूर्तियों पर ब्रह्मा और विष्णु की मूर्तियाँ मिलती हैं। इससे यह स्पष्ट पाया जाता है कि ये तीनों देवता एक ही परमात्मा या ईश्वर के भिन्न भिन्न रूप माने जाते थे। भक्तों ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार चाहे जिसकी उपासना प्रचलित की। पीछे से इनकी कियों सहित मूर्तियाँ भी बनने लगीं और शिव पार्वती की मूर्ति के अतिरिक्त शिव की 'अर्धनारीश्वर' मूर्ति भी मिलती है, जिसमें आधा शरीर शिव का और आधा शरीर पार्वती का होता है। ऐसे ही सम्मिलित मूर्तियाँ भी मिलती हैं। शिव और विष्णु की सम्मिलित मूर्ति को हरिहर और तीनों की सम्मिलित मूर्ति को हरिहर पितामह कहते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही मुख्य तीन देवता माने जाते थे। अठारह पुराण इन्हीं तीन देवताओं के संबंध में हैं। विष्णु, नारदीय, त्रिशंख-पूजा भागवत, गरुड़, पद्म और वराह पुराण विष्णु से, मत्स्य, कूर्म, लिंग, वायु, स्कंद और अग्नि पुराण शिव से तथा ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कंडेय, भविष्य, वामन और ब्रह्म पुराण बहुधा ब्रह्मा से संबंध रखते हैं।



(७) ब्रह्मा, विष्णु और शिव की मूर्ति
[राजपूताना म्यूजियम, अजमेर]





(८) लक्ष्मीनारायण की मूर्ति (गरुड़ पर)
[राजपूताना म्यूजियम, अजमेर]





(१) अर्धनारीश्वर की मूर्ति
[मदुरा]





(१०) ब्रह्माणी (मातृका) की मूर्ति
[राजपूताना म्यूजियम्, अजमेर]

केवल परमात्मा के भिन्न भिन्न नामों को ही देवता मानकर उनकी पृथक् पृथक् उपासना प्रारंभ नहीं हुई, किंतु ईश्वर की भिन्न

भिन्न शक्तियों और देवताओं की पत्नियों की भी शक्तिपूजा

कल्पना की जाकर उनकी पृथक् पृथक् पूजा होने लगी। प्राचीन साहित्य को देखने से ऐसी देवियों के बहुत से नाम पाए जाते हैं। ब्रह्मा, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही और ऐंद्रो इन सात शक्तियों को मातृका कहते हैं। कुछ भयंकर और रुद्र शक्तियों की कल्पना भी की गई, जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—काली, कराली, कापाली, चामुंडा और चंडो। इनका संबंध कापालिकों और कालामुखों से है। कुछ ऐसी भी शक्तियों की कल्पना हुई, जो विषय-विलास की ओर ले जानेवाली हैं। इस प्रकार की देवियाँ आनंद-भैरवी, त्रिपुरसुंदरी और ललिता आदि हैं। उनके उपासकों के मंतव्य के अनुसार शिव और त्रिपुरसुंदरी के योग से ही संसार बना है। नागरी वर्णमाला के प्रथम अक्षर 'अ' से शिव और अंतिम अक्षर 'ह' से त्रिपुरसुंदरी अभिप्रेत है। इस तरह दोनों का योग 'अहं' कामकला का सूचक है*।

भैरवी चक्र शाक्तों का एक मुख्य मंतव्य है। इसमें लो के गुह्य भाग के चित्र की पूजा होती है। शाक्तों में दो भेद हैं, कौलिक और समयिन। कौलिकों में दो भेद हैं, प्राचीन कौलिक तां योनि के चित्र की और दूसरे वास्तविक योनि की पूजा करते हैं। पूजा के समय वे (कौलिक) मद्य, मांस, मीन आदि का भक्षण भी करते हैं। समयिन इन क्रियाओं से दूर रहते हैं। कुछ ब्राह्मण भी कौलिकों के सिद्धांत

* सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर कृत वैष्णविज्ज्म शैविज्ज्म एंड अदर माइनर रिलिजिअस सिस्टम्स; पृ० १४२—४३।

मानते थे। इस भैरवी चक्र के समय वर्णभेद नहीं माना जाता*। नवीं शताब्दी के अंत के आस-पास होतवाले कवि राजशेखर ने अपने 'कर्पूरमंजरी' नामक सट्टक में भैरवानंद के मुख से कौलमत का वर्णन इन शब्दों में कराया है—

मंताय तं ताण थ किं पि जायं जायं च थो किं पि गुरुपसाथो ।
मज्जं पिआमो महिलं रमागो मोक्खं च जामो कुलमग्गलमा ॥ २२ ॥
कवि अ—

रंडा चंडा दिक्खिआ धम्मदाता मज्जं मंसं पिज्जए खजए अ ।

भिक्षा भोजं चर्मखंडं च सेजा कोलो धम्मो कस्स थो भाइ रम्मो ॥ २३ ॥

अर्थ—हम मंत्र तंत्रादि कुछ नहीं जानते, न गुरुकृपा से हमें कोई ज्ञान प्राप्त है। हम लोग मद्यपान और स्त्री-गमन करते हैं और कुलमार्ग का पालन करते हुए मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥

पुनश्च—

कुलटाओं को दीक्षित कर हम धर्मपत्नी बना लेते हैं। हम लोग मद्य पीते और मांस खाते हैं। भिक्षा ही हमारा भोजन और चर्मखंड शय्या है। ऐसा कौल धर्म किसे रमणीय प्रतीत नहीं होता ? ॥ २३ ॥

इन सब देवियों के अतिरिक्त गणेश की पूजा हमारे समय से भी पूर्व प्रारंभ हो चुकी थी। गणेश या विनायक, रुद्र के गणों का

नेता था। याज्ञवल्क्य स्मृति में गणेश और उसकी माता अंबिका की पूजा का वर्णन

मिलता है। न तो चौथी शताब्दी से पूर्व की कोई गणपति की मूर्ति मिली और न उस समय के शिलालेखों में उसका उल्लेख मिलता है। इलोरा की गुफाओं में कतिपय देवियों की मूर्ति के

* सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर कृत वैष्णविज्जम शैविज्जम पंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम्स पृष्ठ १४६—४७ ।

† कर्पूरमंजरी, प्रथम अवतिकांतर; हार्वर्ड संस्करण; पृष्ठ २४—२५ ।

साथ गणपति की मूर्ति बनी हुई है। ८६२ ई० के घटियाला के स्तंभ में श्रीगणेश की चार मूर्तियाँ बनी हैं। गणेश के मुख में सूँड की कल्पना न जाने कब आविष्कृत हुई। इलोरा तथा घटियाले की मूर्तियों में सूँड बनी हुई है। 'मालतीमाधव' में भी गणेश की सूँड का वर्णन है। गणपत्यों की भी कई शाखाएँ हो गई। अन्य देवों की तरह आज तक गणपति की पूजा होती है*। महाराष्ट्र में गणपतिपूजा का उत्सव विशेष रूप से मनाया जाता है।

स्कंद या कार्तिकेय की पूजा भी प्राचीन समय में होती थी। स्कंद, शिव का पुत्र माना जाता था। रामायण में उसे गंगा का पुत्र बताया गया है। इसके विषय में कई

स्कंद-पूजा

अन्य दंतकथाएँ भी प्रचलित हैं। स्कंद देवताओं का सेनापति माना जाता है। पतंजलि ने महाभाष्य में शिव और स्कंद की मूर्तियों का उल्लेख किया है। कनिष्क के सिक्कों पर स्कंद महासेन आदि कुमार के नाम मिलते हैं। ४०४ ई० में ध्रुव-शर्मा ने बिलसद में स्वामी महासेन के मंदिर में प्रतोली बनवाई थी। हेमाद्रि के व्रतखंड में स्कंद की पूजा का वर्णन मिलता है। यह पूजा आज तक प्रचलित है†।

हमारे निर्दिष्ट समय में इन देवियों के अतिरिक्त सूर्य-पूजा भी बहुत अधिक प्रचलित थी। सूर्य ईश्वर का ही रूप माना जाता था।

सूर्य-पूजा

ऋग्वेद में सूर्य की उपासना का बहुत जगह उल्लेख है। ब्राह्मणों और गृह्यसूत्रों में भी इसका बहुत वर्णन है। सूर्य का देवों में विशेष स्थान था। बहुत से संस्कारों में भी इसकी पूजा होती थी। इसकी पूजा दिन के

० सर रामकृष्ण गोशाल भांडारकर कृत वैष्णविज्ज शैविज्ज पंड अदर माइनर रिलिजस सिस्टम्स; पृष्ठ १४७—१५०।

† वही; पृष्ठ १५०—११।

भिन्न भिन्न भागों में उसे उत्पादक, संरक्षक, विनाशक आदि नामों से, बहुत प्रकार से, की जाती थी ।

सूर्य की मूर्तियों की पूजा कब से भारत में प्रचलित हुई, यह कहना कठिन है । वराहमिहिर ने सूर्य की मूर्तियों की पूजा का मगों के द्वारा प्रचलित होने का उल्लेख किया है । सूर्य की मूर्ति द्विभुज होती है । दोनों हाथों में कमल, सिर पर किरीट, छाती पर कवच और पैरों में घुटने से कुछ नीचे तक लंबे बूट होते हैं । हिंदुओं में पूजा जानेवाली मूर्तियों में से सूर्य की मूर्ति ही ऐसी है, जिसके पैरों में लंबे बूट मिलते हैं । संभव है, सूर्य की प्रथम मूर्ति शीतप्रधान ईरान से आई हो, जहाँ बूट पहनने का रिवाज था । भविष्यपुराण में लिखा है कि सूर्य के पैर खुले नहीं होने चाहिए । उसी पुराण में एक कथा है कि राजा सांव (कृष्ण और जांबवती के पुत्र) ने सूर्य की उपासना से नीरेग होने के कारण सूर्य की मूर्ति स्थापित करनी चाही, परंतु देवपूजा से प्राप्त होनेवाले द्रव्य से ब्रह्म-क्रिया नहीं होती, यह कहकर उस कार्य को ब्राह्मणों ने स्वीकार नहीं किया । तब राजा ने शाक द्वीप (ईरान का दक्षिण-पूर्वी भाग) से मग जाति के ब्राह्मणों को बुलाया* । ये लोग अपनी उत्पत्ति

* एवमुक्तु सांवेन नारदः प्रत्युवाच तम् ।

न द्विजाः परिगृह्णन्ति देवस्य स्वीकृतं धनम् ॥ ४ ॥

.....
देवचर्यागतैर्द्रव्यैः क्रिया ब्राह्मी न विद्यते ॥ ५ ॥

.....
अप्राह्यं च द्विजातिभ्यः कस्मै देयमिदं मया ॥ २८ ॥

.....
मगाय संप्रयच्छ त्वं पुरमेतच्छुभं विभोः ॥ २९ ॥

.....
तस्याधिकारो देवाञ्च देवतानां च पूजने ॥ ३० ॥

भविष्यपुराण, ब्राह्मण्य अध्याय ॥ १३६ ॥



(११) सूर्य की मूर्ति
[राजपूताना म्यूजियम, अजमेर]



ब्राह्मण कन्या और सूर्य से होना मानते थे और सूर्य की पूजा करते थे। अलबेरुनी लिखता है—“भारत के तमाम सूर्यमंदिरों के पुजारी ईरानी मग होते हैं”। राजपूताने में इनको सेवक और भोजक कहते हैं। सूर्य के हजारों मंदिर बने और अब तक सैकड़ों मंदिर विद्यमान हैं, जिनमें सबसे विशाल और सारे प्राकार सहित संगमर-मर का बना हुआ सिरोही राज्य के वरमाण गाँव में विद्यमान है। यह मंदिर प्राचीन है और इसके स्तंभों पर नवीं और दसवीं सदी के लेख खुदे हैं, जिनमें उस मंदिर को दिए हुए दानों का उल्लेख है। जैसे शिवमंदिर में वृषभ और विष्णुमंदिर में गरुड़ उनके वाहन होते हैं, वैसे सूर्यमंदिर में सूर्य के सामने चतुरस्र स्तंभ के ऊपर कीली पर घूमता हुआ उसके वाहन रूप एक कमलाकृति चक्र होता है। ऐसे चक्र आज भी कई मंदिरों में विद्यमान हैं। इस रथ को खींचनेवाले सात घोड़ों की कल्पना गई है इसी से सूर्य को सप्ताश्व या सप्तसप्ति कहते हैं। कई मूर्तियों में सूर्य के नीचे सात घोड़े भी बने हुए हैं। एक सूर्यमंदिर के बाहर की तरफ सात घोड़ों-वाली सूर्य की कुछ ऐसी मूर्तियाँ भी हमने देखी हैं, जिनके नीचे का भाग बूट सहित सूर्य का और ऊपर का ब्रह्मा, विष्णु या शिव का है।

पाटण (भालरापाटन राज्य) के पद्मनाभ नामक विष्णुमंदिर के, जो अनुमानतः दसवीं शताब्दी का बना हुआ है, पीछे के ताक में ऐसी मूर्ति है, जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और सूर्य तीनों का मिश्रण है, जैसा कि उनके भिन्न भिन्न आयुधों से पाया जाता है।

सूर्य के विद्यमान मंदिरों में सबसे पुराना मंदसोर का सूर्य-मंदिर है, जो ई० स० ४३७ में बना था, जैसा कि उसके शिलालेख से जान पड़ता है। मुलतान के सूर्य-मंदिर का उल्लेख हुएन्त्संग ने किया है। अरब यात्री अलबेरुनी ने भी इस मंदिर को ग्यारहवीं सदी में देखा था। हर्ष के एक ताम्रपत्र में उसके पूर्वज प्रभाकरवर्द्धन,

राज्यवर्द्धन और आदित्यवर्द्धन के परमादित्यभक्त होने का उल्लेख है। सूर्य के पुत्र रेवंत की भी घोड़े पर बैठी हुई मूर्तियाँ मिलती हैं। वह घोड़ों का अधिष्ठाता देवता माना जाता है और उसके पैरों में भी सूर्य के समान लंबे बूट देख पड़ते हैं*।

इसी तरह अष्ट दिक्पालों—इंद्र, अग्नि, यम, नैऋत, वरुण, मरुत, कुबेर और ईश (शिव)—की भी मूर्तियाँ थीं। ये मूर्तियाँ मंदिरों में पूजी जाती थीं और कई मंदिरों आदि पर अपनी दिशाओं के क्रम से लगी हुई भी पाई जाती हैं। अष्ट दिक्पालों की कल्पना भी बहुत प्राचीन है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में धनपति (कुबेर) के मंदिर में मृदंग, शंख और तूणव (बंसी) के बजने का उल्लेख किया है†।

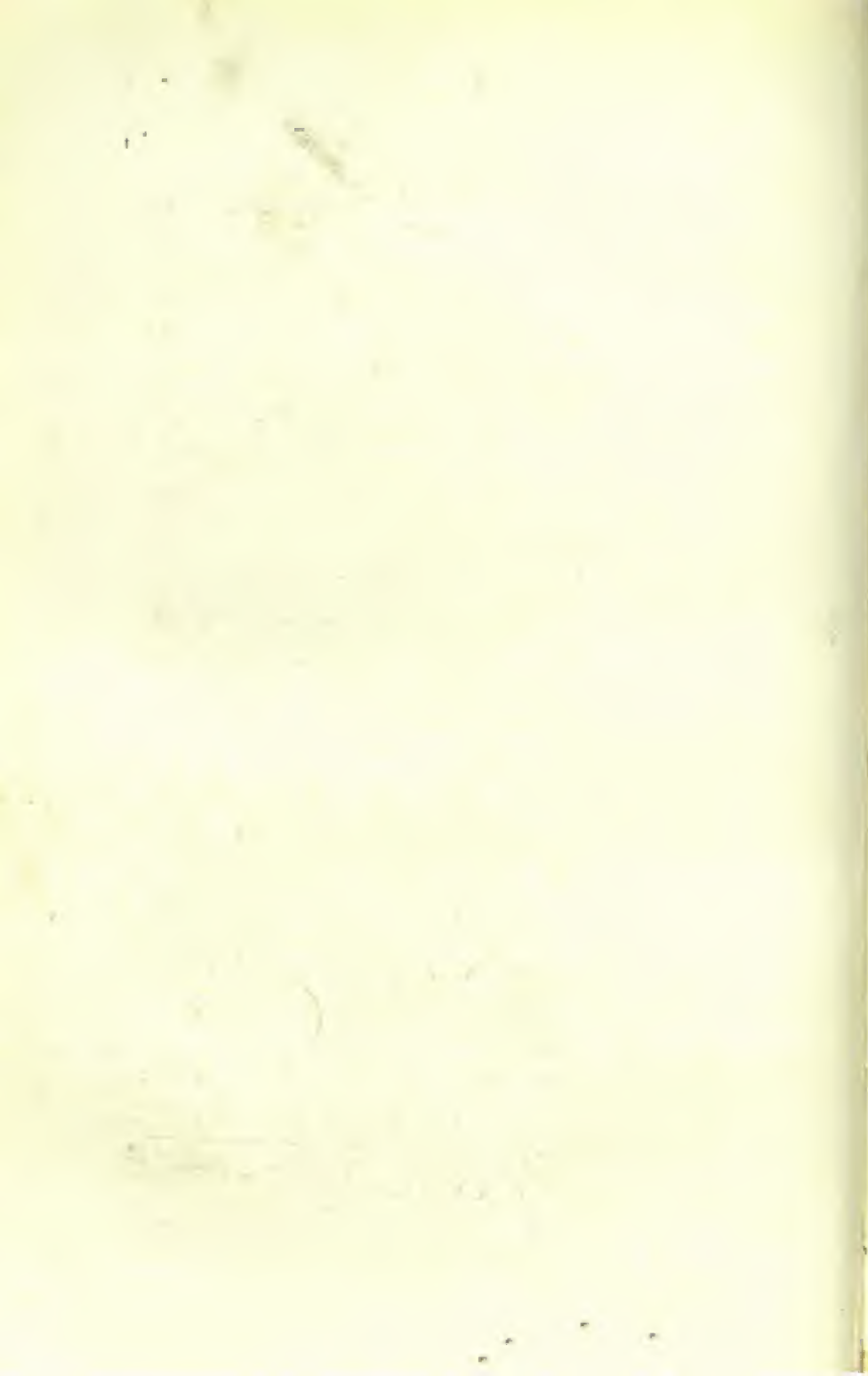
हिंदुओं में जब मूर्तियों की कल्पना का प्रवाह चल पड़ा, तब देवताओं की मूर्तियाँ तो क्या, ग्रह, नक्षत्र, प्रातः, मध्याह्न, सायं, आदि समयविभाग, शस्त्रों, नदियों, कलि आदि युगों तक की मूर्तियाँ बना डाली गई। पीछे से भिन्न भिन्न देवताओं के उपासक हिंदुओं में भेद-भाव या द्वेष नहीं रहा। ताम्रपत्रादि से पाया जाता है कि एक राजा परम वैष्णव था, तो उसके पुत्रादि परम माहेश्वर या भगवती के भक्त होते थे। अंत में हिंदुओं के पाँच—सूर्य, विष्णु, देवी, रुद्र और शिव—मुख्य उपास्य देवता रह गए, जिन्हें सामान्य रूप से पंचायतन कहते हैं। शिव विष्णु आदि के ऐसे पंचायतन मंदिर भी मिलते हैं और घरों में भी पंचायतन पूजा होती है। जिस देवता का मंदिर होता है उसकी मूर्ति मध्य में और चारों कोनों में अन्य चार देवताओं की मूर्तियाँ होती हैं।

* सर रामकृष्णगोपाल भांडारकरकृत वैष्णविज्जम शैविज्जम फंड अदर भाइजर मिलिजस सिस्टमल; पृष्ठ १६१-६६।

† पाणिनि के सूत्र २।२।३४ पर पतंजलि का भाष्य।



(१२) यम की मूर्ति
[राजपूताना म्यूजियम, अजमेर]





(१३) नवग्रहों में से शुक्र, मंगल, राहु और केतु की मूर्तियाँ
[राजपूताना म्युजियम, अजमेर]



हिंदूधर्म के इन सब संप्रदायों पर विचार करने के पश्चात् उसके कुछ सामान्य अंगों पर संक्षिप्त विचार करना आवश्यक है। हिंदुओं

के प्रमाणभूत ग्रंथ वेद हैं। हमारे निर्दिष्ट हिन्दूधर्म के सामान्य अंग काल में भी वेद पढ़े जाते थे, परंतु वेदों की

वह प्रधानता वैसी न रही थी। अलबेरुनी लिखता है—“ब्राह्मण वेदों को अर्थ समझने ही बिना कंठस्थ कर लेते हैं और बहुत थोड़े ब्राह्मण उसका अर्थ समझने की कोशिश करते हैं। ब्राह्मण चत्रियों को वेद पढ़ाते हैं, वैश्यों और शूद्रों को नहीं*। वैश्यों ने पहले बौद्ध होकर बहुधा वेदादि को पढ़ना छोड़ दिया था, तब से उनका संबंध वेदों से छूट गया। अलबेरुनी लिखता है कि वेद लिखे नहीं जाते थे, याद किए जाते थे। इस पद्धति से बहुत सा वैदिक साहित्य नष्ट हो गया। वेदों की जगह पुराणों का प्रचार होता गया और पौराणिक संस्कारों का प्रचलन बढ़ता गया। श्राद्ध और तर्पण की प्रथा बहुत बढ़ गई। यज्ञों का प्रचार कम हो गया था और पौराणिक देवताओं की पूजा बढ़ गई थी, जिसका वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। अलबेरुनी ने कई मंदिरों की मूर्तियों का भी वर्णन किया है†।

मंदिरों के साथ साथ मठों की भी स्थापना आरंभ कर दी गई थी। इस संबंध में हिंदुओं ने बौद्धों का अनुकरण किया। सब संप्रदायों और उपसंप्रदायों के साधु और तपस्वी इन मठों में रहते थे। अनेक शिलालेखों में मंदिरों के साथ मठ, वाग और व्याख्यान-शालाओं के होने का उल्लेख मिलता है। बहुत से संस्कारों का वर्णन याज्ञवल्क्य स्मृति और उसकी मिताक्षरा टीका में है। बौद्धों की रथ-यात्रा का अनुकरण भी हिंदुओं ने कर लिया। इन सब परिवर्तनों के

* अलबेरुनीज इंडिया, साधू कृत अंगरेजी अनुवाद; जिल्द १, पृष्ठ १२८।

† वही; जिल्द १, पृष्ठ १२९।

‡ चि० वि० वैद्य; हिस्ट्री आफ़ मिडिपवल्ड इंडिया; जिल्द ३, पृष्ठ ४३४-३५।

होने का यह आवश्यक परिणाम था कि धार्मिक साहित्य में भी परिवर्तन हो। इस काल में कई नई स्मृतियाँ बनीं, जिनमें तत्कालीन रीति रिवाजों का उल्लेख है। पुराणों के नए संस्करण होकर उनमें बौद्धों और जैनों से मिलती हुई बहुत सी बातें दर्ज की गईं। व्रतों का प्रचार भी बहुत बढ़ा। कई देवताओं के नाम से विशेष व्रत किए जाते थे। पुण्य बुद्धि से व्रत और उपवासों की प्रथा हिंदुओं ने बौद्धों और जैनों से ली। एकादशी, जन्माष्टमी, देवशयनी, दुर्गाष्टमी, ऋषि-पंचमी, देवप्रबोधनी, गौरी तृतीया, वसंतपंचमी, अक्षय तृतीया आदि त्योहारों पर व्रत रखने का अलवेरूनी ने उल्लेख किया है। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि उसने रामनवमी का उल्लेख नहीं किया। संभवतः उस समय पंजाब में रामनवमी का प्रचार न था। इसी तरह अलवेरूनी ने कई धार्मिक त्योहारों का भी वर्णन किया है। कई त्योहार तो विशेषतः स्त्रियों के लिये होते थे*।

हिंदू समाज के धार्मिक जीवन में प्रायश्चित्तों का भी विशेष स्थान था। साधारण सामाजिक नियमों को भी धर्म का रूप देकर उनके पालन न करने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया था। हमारे निर्दिष्ट काल में जो स्मृतियाँ बनीं, उनमें प्रायश्चित्तों को मुख्य स्थान दिया गया। अंत्यजों के साथ खाने, अशुद्ध जल पीने, निषिद्ध और अपवित्र भोजन करने, रजस्वला और अंत्यजों के स्पर्श, उष्ट्रो के दूध पीने, शुद्र, स्त्री, गौ, क्षत्रिय और ब्राह्मण की हत्या, श्राद्ध में मांस देने पर न खाने, समुद्र-यात्रा करने, जवर्दस्ती दास बनाने, स्त्रियों के बलपूर्वक स्लेच्छों द्वारा छीने जाने पर फिर शुद्ध न करने, व्यभिचार, सुरापान, गोमांसभक्षण, अपवित्र वस्तु के स्पर्श, शिखाच्छेदन, यज्ञोपवीत के बिना भोजन करने आदि बातों पर चांद्रायण, कृच्छ्र आदि भिन्न भिन्न प्रायश्चित्तों का विधान है।

* वि०वि०वैद्य; हिस्ती आक मिहिण्डवल इंडिया; जिल्द ३, पृ० ४३६-४६।

अस्पृश्यता आदि बातें हमारे समय के पिछले काल में प्रचलित हुईं। इनसे हिंदू धर्म में संकीर्णता ने बहुत प्रवेश कर लिया और यह संकीर्णता शनैः शनैः बढ़ती गई।

कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य

✓ हमारे निर्दिष्ट समय के भारत के धार्मिक इतिहास में कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य का विशेष स्थान है। हम पहले कह चुके हैं कि बौद्धों और जैनियों ने ईश्वर के अस्तित्व कुमारिल भट्ट और उसके सिद्धांत और वेदों में ईश्वरीय ज्ञान होने को स्वीकृत नहीं किया था। इससे साधारण जनता में

ईश्वर और वेद के प्रति श्रद्धा उठती जाती थी। येही दोनों हिंदू धर्म के प्रधानभूत अंग हैं। इनके नष्ट होने से हिंदू धर्म भी नष्ट हो जाता। बौद्ध धर्म का जब प्रचार कम हो रहा था और हिंदू धर्म का प्रचार पीछे तेजी से बढ़ रहा था, उस समय (सातवीं सदी के अंतिम भाग में) कुमारिल भट्ट उत्पन्न हुआ। उसके निवास-स्थान के विषय में विद्वानों में बहुत मत-भेद है। कोई विद्वान् उसे दक्षिणी मानते हैं और कोई उसे उत्तरी भारत का निवासी। हम इस विवाद में उतरना नहीं चाहते। उसने वेदों के प्रचार के लिये बहुत प्रयत्न किया और यह बतलाया कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं। उस समय की अहिंसा की लहर के विरुद्ध कर्मकांड को भी पुनरुज्जीवित करने का उसने यत्न किया। यज्ञों में पशु-हिंसा की भी उसने पुष्टि की। कर्मठ के लिये यज्ञ और उसमें पशु-हिंसा आवश्यक थी। वह बौद्ध भिक्षुओं के वैराग्यवाद—संन्यासाश्रम—के भी विरुद्ध था। उस समय की प्रतिकूल अवस्थाओं में भी कुमारिल ने अपने सिद्धांतों का बहुत प्रचार कर लिया, यद्यपि उसे इसमें बहुत कठिनाइयों का

सामना करना पड़ा। उस समय अहिंसा और वैराग्य का प्रचार था; ब्राह्मण भी प्राचीन अग्निहोत्र और यज्ञों को छोड़कर पौराणिक देवी-देवताओं का प्रचार कर रहे थे। ऐसी अवस्थाओं में उसके सिद्धांत अधिक लोकप्रिय न हो सके, इसलिये उसके द्वारा वेदों का प्रचार व्यापक रूप से न हो सका *।

कुमारिल के कुछ समय बाद शंकराचार्य केरल प्रांत के कालपी^{टी} गाँव में, ७८८ ई० में, उत्पन्न हुए। उन्होंने बहुत छोटी अवस्था में

शंकराचार्य और उनके सिद्धांत ही प्रायः सब ग्रंथ पढ़ लिए और वे एक बड़े भारी दार्शनिक विद्वान् बन गए। बौद्धों और जैनो के नास्तिकवाद को वे नष्ट करना चाहते

थे, परंतु साथ ही यह जानते थे कि कुमारिल भट्ट की तरह बहुत सी बातों में जनता के विरुद्ध होने से कुछ नहीं हो सकता। उन्होंने ज्ञानकांड का और अहिंसा के सिद्धांतों का आश्रय लेते हुए वेदों का प्रचार किया और संन्यास मार्ग को ही अधिक प्रधानता दी। ब्रह्म का अस्तित्व स्वीकार करते हुए उन्होंने देवो-देवताओं की पूजा का विरोध भी नहीं किया। उनके मायावाद और अद्वैतवाद के कारण, जो बौद्धों के विज्ञानवाद से विशेष भिन्न नहीं थे, बौद्ध भी उनकी ओर आकर्षित हुए। इसी लिये वे “प्रच्छन्न बौद्ध” कहलाते हैं। उन्होंने उपर्युक्त मंतव्यों को मानकर वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने का बहुत वेग से प्रचार किया।

उनके दार्शनिक विचारों तथा कार्य का वर्णन हम दर्शन के प्रकरण में करेंगे। वे अपने विचारों और सिद्धांतों का प्रचार प्रायः संपूर्ण भारतवर्ष में घूम घूमकर करते रहे और भिन्न भिन्न मतावलंबियों से बहुत शास्त्रार्थ कर उन्होंने उन्हें परास्त किया। उन्होंने सोचा कि अपने सिद्धांतों का स्थायी रूप से प्रचार करने के लिये स्थिर संस्थाओं की आवश्यकता है, इसलिये भारतवर्ष की चारों

दिशाओं में उन्होंने एक एक मठ स्थापित किया। सबसे मुख्य मठ दक्षिण में शृंगेरी स्थान में, पश्चिम में द्वारिका में, पूर्व की तरफ पुरी में और उत्तर की ओर बदरिकाश्रम में है। ये मठ अब तक चले आ रहे हैं। उनके प्रयत्नों से बौद्धों का बहुत ह्रास हुआ। ३२ वर्ष की अवस्था में ही शंकराचार्य का बदरिकाश्रम में देहांत हुआ। इतनी छोटी अवस्था में भी उन्होंने इतना बड़ा कार्य कर दिखाया कि हिंदुओं ने उनको जगद्गुरु की उपाधि देकर सम्मानित किया*।

धार्मिक स्थिति का सिंहावलोकन

तीनों मुख्य मुख्य धर्मों का विवेचन करने के अनंतर उस समय की धार्मिक स्थिति का सिंहावलोकन करना अनुचित न होगा। यद्यपि हमारे निर्दिष्ट काल में भिन्न भिन्न धर्म विद्यमान थे और उनमें कभी कभी संघर्ष भी होता रहा, तो भी धार्मिक असहिष्णुता का भाव नहीं पाया जाता। हिंदू धर्म की विभिन्न शाखाओं में परस्पर भिन्नता होते हुए भी हमें उनमें एकता की एक लहर दीख पड़ती है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव के पूजकों में परस्पर एकता के परिणाम-स्वरूप ही पंचायतन पूजा प्रचलित हुई। विष्णु, शिव, रुद्र, देवी और सूर्य सभी देवता एक ही ईश्वर की भिन्न भिन्न शक्तियों के सूचक प्रतिनिधि माने गए, जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं। इससे सब संप्रदायों में एकता के भाव उत्पन्न हो गए। प्रत्येक मनुष्य अपने इच्छानुसार किसी भी देवता का उपासक हो सकता था। कन्नौज के प्रतिहार राजाओं में यदि एक वैष्णव था, तो दूसरा परम शैव और तीसरा भगवती का उपासक, तो चौथा परम आदित्य-भक्त। यह धार्मिक सहिष्णुता केवल हिंदू धर्म तक ही परिमित न

* चि०वि० वैद्य; हिस्ट्री ऑफ मिडिएवल इंडिया; वि० २, पृष्ठ २१३-१७।

थी, बल्कि बौद्ध और ब्राह्मण धर्म में भी परस्पर सहिष्णुता आ चुकी थी। कन्नौज के गाहड़वालवंशी परम शैव गोविंदचंद्र ने दो बौद्ध भिक्षुओं को विहार के लिये छः गाँव दिए थे। बौद्ध राजा मदन-पाल ने अपनी स्त्री को महाभारत सुनानेवाले ब्राह्मण को एक गाँव दिया था। यह ध्यान देने योग्य बात है कि हमारे समय में हिंदू और बौद्धों में पहले का वैमनस्य नष्ट होकर उनमें परस्पर विवाह भी होने लग गए थे। परम शैव गोविंदचंद्र की स्त्री बौद्ध थी। जैन और हिंदू भी परस्पर विवाह संबंध करते थे, जो आज तक भी घोड़ा बहुत प्रचलित है। ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं कि पिता बौद्ध है तो पुत्र वैष्णव और पिता हिंदू है तो पुत्र बौद्ध। दोनों धर्म इतने समीप आ गए थे और उनमें परस्पर इतनी समानताएँ हो गई थीं कि उनकी दंतकथाओं में भेद करना भी कठिन हो गया। जैनियों और बौद्धों के प्रवर्तक भी हिंदुओं के अवतार माने गए। जैनियों, बौद्धों और हिंदुओं के धर्मों में २४ तीर्थंकरों, २४ बुद्धों और २४ अवतारों की कल्पना में बहुत समानता है। हमारे निर्दिष्ट समय में यद्यपि तीनों धर्म प्रचलित थे, परंतु ब्राह्मण धर्म की सबसे अधिक प्रधानता थी। बौद्ध धर्म तो मृतप्राय हो चुका था। जैन धर्म बहुत परिमित क्षेत्र में रह गया था। हिंदू धर्म में भी शैव मत का प्रचार अधिक बढ़ रहा था। पिछले समय में बहुत से राजा शैव ही थे।

तत्कालीन धार्मिक स्थिति का हमारा अवलोकन तब तक अपूर्ण ही रहेगा, जब तक हम भारतवर्ष में नए प्रविष्ट होनेवाले इस्लाम धर्म

पर दो चार शब्द न कहें। यद्यपि मुहम्मद कासिम से पहले भी मुसलमानों की कुछ

भारत में इस्लाम का प्रवेश बढ़ाईयाँ भारत की तरफ हुई थीं, परंतु इनका यहाँ पाद-प्रवेश नहीं हुआ। आठवीं सदी में सिंध पर मुसलमानों के अधिकार होने के साथ वहाँ इस्लाम का प्रवेश होने लगा। उसके

बहुत समय बाद ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में मुसलमान भारत में आए । जहाँ मुसलमान विजेताओं की तलवार ने इस्लाम फैलाने का काम किया, वहाँ हिंदू राजाओं की उदारता भी उसके फैलने में सहायक हुई । राष्ट्रकूट और सोलंकी राजाओं ने भी मस्जिद आदि बनवाने में मुसलमानों को सहायता दी । धाना के शिलारा-वंशी राजाओं ने पारसियों और मुसलमानों को पर्याप्त सहायता दी थी । मुसलमान अपने साथ नवीन भाषा, नवीन धर्म और नवीन सभ्यता को भारत में लाए* ।

सामाजिक स्थिति

✓ प्राचीन भारतीयों के सामाजिक जीवन की सबसे मुख्य संस्था वर्ण-व्यवस्था है। इसी की भित्ति पर हिंदू समाज का भवन खड़ा है, जो अत्यंत प्राचीन काल से अनंत बाधाओं का सामना करते हुए भी अब तक न टूट सका। हमारे निर्दिष्ट समय से बहुत पूर्व इस संस्था का विकास हो चुका था। वर्णव्यवस्था का उल्लेख यजुर्वेद तक में मिलता है।

यद्यपि बौद्ध और जैन धर्म ने वर्णाश्रम-व्यवस्था का विरोध कर इसको बहुत धक्का पहुँचाने का प्रयत्न किया, तथापि यह व्यवस्था नष्ट नहीं की जा सकी और हिंदू धर्म के पुनरभ्युदय के साथ साथ इस संस्था की भी फिर उन्नति हुई। हमारे निर्दिष्ट समय में यह व्यवस्था बहुत अच्छी तरह प्रचलित थी। हुएन्सिंग चारों वर्णों का उल्लेख करता है*। बौद्ध भिक्षुओं और जैन साधुओं का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। अब हम क्रमशः समाज के सब विभागों पर संक्षेप से विचार करेंगे।

ब्राह्मणों का समाज में सबसे अधिक सम्मान था। शिक्षा और विद्या में येही सबसे बड़े चढ़े थे। सब वर्ण इनकी प्रधानता मानते थे। बहुत से कार्य प्रायः ब्राह्मणों के लिये ही सुरक्षित रहते थे। वे शासन-कार्य में भी पर्याप्त भाग लेते थे। प्रायः मंत्री तो ब्राह्मण ही होते थे और कभी कभी वे सेनापति भी बनते थे। अबुजैद उनके विषय में लिखता है—“धर्म और विज्ञान में प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति ब्राह्मण

कहलाते हैं। उनमें से बहुत से कवि, ज्योतिषी, दार्शनिक और दैवज्ञ राजा के दरबार में रहते हैं* ।' इसी तरह अलूमसऊदी उनके विषय में लिखता है कि ब्राह्मणों का उत्तम और श्रेष्ठ कुल की तरह सम्मान होता है। प्रायः ब्राह्मण ही कुल-क्रम से राजाओं के मंत्री आदि होते हैं† ।

ब्राह्मणों के मुख्य कर्त्तव्य पढ़ना, पढ़ाना यज्ञ करना और कराना, तथा दान देना और लेना था। बौद्ध धर्म के प्रचार के समय वर्ण-व्यवस्था के शिथिल होने के कारण ब्राह्मणों के हाथ से उपर्युक्त कार्यों में से कई चले गए थे। यज्ञादि के बंद होने से बहुत से ब्राह्मणों की आजीविका नष्ट हो गई थी, इसलिये ब्राह्मण अन्य वर्णों के कार्य भी करने लगे। इसी के अनुसार नई स्मृतियाँ भी बनीं। वे लोग क्षत्रिय और वैश्य का भी काम करने लगे। बौद्ध मत के अनुसार कृषि पाप होने के कारण बहुत से वैश्यों ने बौद्ध होकर कृषि छोड़ दी। यह अवसर देखकर बहुत से ब्राह्मण कृषि पर गुजारा करने लगे। पराशर स्मृति में सब वर्णों को कृषि करने की आज्ञा दी गई है‡ । इसके अतिरिक्त उस समय के अनुकूल सब वर्णों को शस्त्र ग्रहण करने का अधिकार भी दिया गया§ । इतना ही नहीं, उस समय ब्राह्मण शिल्प, व्यापार और दुकानदारी भी करते थे,

* इलियट हिस्ट्री ऑफ इंडिया; जि० १, पृ० ६।

† चि० वि० वैद्य; हिस्ट्री ऑफ मिडिप्चल इंडिया; जिल्द २, पृष्ठ १८१।

‡ पट्टकर्मसंहिता विप्रः कृषिकर्म च कारयेत् ॥ २ ॥

क्षत्रियोपि कृषिं कृत्वा देवान् विप्रान् च पूजयेत् ॥ १८ ॥

वैश्यः शुद्रस्तथाकुर्वान् कृषिवाणिज्यशिल्पकम् ॥ १६ ॥

अध्याय २।

§ प्रायः प्राणो वर्णसंकरे वा ब्राह्मणवैश्यौ शस्त्रमाददीयाताम्।

वसिष्ठस्मृति, अ० ३।

परंतु ऐसा करते हुए भी वे अपने सम्मान का पूरा खयाल रखते थे। वह नमक, तिल (यदि वह अपने परिश्रम से बोया न गया हो), दूध, शहद, शराब और मांस आदि पदार्थ नहीं बेचते थे। इसी तरह ब्राह्मण सूद-वृत्ति को भी घृणित कार्य समझकर नहीं करते थे। उनके आचार व्यवहार में शुद्धि की बहुत मात्रा थी। उनका भोजन आदि भी अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक शुद्ध तथा सात्विक होता था, जिसका वर्णन हम आगे भोजन के प्रकरण में करेंगे। उनमें धार्मिकता और आध्यात्मिकता का विचार बहुत था और वे अपने को अन्य वर्णों से पृथक् और ऊँचा रखने का प्रयत्न करते थे। अन्य वर्णों पर उनका प्रभाव बहुत समय तक बना रहा। राजनियमों में भी उन्हें बहुत रियायत दी जाती थी, वस्तुतः उस समय वर्णों का प्राचीन कर्तव्य-विभाग बहुत शिथिल हो रहा था और सभी वर्ण अपने अपने इच्छानुसार काम करने लग गए थे। पीछे से राजा योग्य व्यक्तियों को ऊँचे पदों पर नियत करने लगे थे, चाहे वे किसी वर्ण के ही क्यों न हों*।

अपने निर्दिष्ट समय के प्रारंभ में हम हिंदू समाज को केवल चार वर्णों और कुछ नीच जातियों में बँटा हुआ पाते हैं। ११ वीं सदी के प्रसिद्ध अलबेरूनी ने भी चार वर्णों का ही ब्राह्मणों की उपजातियाँ उल्लेख किया है†, परंतु हमें शिलालेखों से पता लगता है कि उस समय वर्णों में उपजातियाँ बनने लग गई थीं। अलबेरूनी ने जो कुछ लिखा है वह समाज की तत्कालीन स्थिति को ही देखकर नहीं, किंतु उसने जो कुछ पुस्तकों से पढ़ा था,

* चि० वि० वैद्य; हिस्ट्री आफ़ मिडिपुबल इंडिया; जिल्द २, पृष्ठ १८१—८२।

† अलबेरूनीज इंडिया; साच् कृत अंगरेजी अनुवाद; जि० १, पृ० १००—१०१।

वह भी स्थल स्थल पर लिख दिया है, जिससे उसकी पुस्तक तात्कालिक स्थिति का सच्चा परिचय नहीं देती ।

ब्राह्मण ६०० ई० से १००० ई० तक भिन्न भिन्न जातियों में बँटे हुए मालूम नहीं होते । उस समय तक ब्राह्मणों का भेद शाखा और गोत्र का उल्लेख करके ही किया जाता था, जैसा कि १०५० ई० के चँदेलों के ताम्रपत्र में भाट्टाज गोत्र, यजुर्वेदीय शाखा के विप्रवर ब्राह्मण का उल्लेख है । १०७७ ई० के कलचुरी लेख में, जो गोरखपुर जिले के कहन नामक स्थान से प्राप्त हुआ, ब्राह्मणों के नामों के साथ शाखा गोत्रादि के अतिरिक्त उनके निकास के ग्रामों का नामोल्लेख है । इसी तरह कई अन्य शिलालेखों में ब्राह्मणों के वासस्थान का ही उल्लेख मिलता है । बड़नगर की कुमारपाल-प्रशस्ति (११५१ ई०) में नागर ब्राह्मण का उल्लेख है, कोंकण के बारहवीं सदी के लेख में ३२ ब्राह्मणों के नाम दिए हैं, जिनके गोत्र तो हैं शाखा नहीं, परंतु उनमें ब्राह्मणों के उपनाम भी साथ दिए हैं, जो उनके पेशे या स्थानों या अन्य विशेषताओं के कारण बने हुए प्रतीत होते हैं । बारहवीं शताब्दी में ऐसे उपनामों का बहुत प्रयोग होने लगा था, जिनमें से कुछ नाम ये हैं—दीक्षित, राउत, ठाकुर, पाठक, उपाध्याय और पट्टवर्धन आदि । इस समय तक भी गोत्र और प्रवर प्रचलित थे, परंतु इन उपनामों की प्रधानता बढ़ती जाती थी । शिलालेखों में हम पंडित, दीक्षित, द्विवेदी, चतुर्वेदी, आव-स्थिक, माथुर, त्रिपुर, अकोला, डंडवाण आदि नाम पाते हैं, जो स्पष्ट ही उनके कार्य और वासस्थान से निकले हुए प्रतीत होते हैं । पीछे से इनमें से कितने एक उपनाम भिन्न भिन्न जातियों में परिणत हो गए । यह जाति-भेद क्रमशः बढ़ता गया । इसके बढ़ने में दो तीन अन्य कारणों ने भी बहुत कुछ सहायता दी, जैसे कि भोजन में भेद हो जाना । मांसाहारी और शाकाहारी होने से भी

दो बड़े भेद हो गए। भिन्न भिन्न रीति रिवाजों और विचारों के कारण कई भेद पैदा हो गए। दार्शनिक विचारों में मत-भेद हो जाने के कारण भी भेद बढ़े। इन्हीं कारणों से जाति-भेद बढ़ते बढ़ते आज सैकड़ों जातियाँ हो गईं। हमारे समय तक ब्राह्मण पंचगौड़ और पंचद्रविड़ दो मुख्य शाखाओं में नहीं बँटे थे। यह भेद १२०० के बाद हुआ, जो संभवतः मांसाहार और अन्नाहार के कारण हुआ हो*। ग्यारहवीं सदी में गुजरात के सोलंकी राजा मूलराज ने सिद्धपुर में रुद्रमहालय नामक विशाल शिवालय बनवाया, जिसकी प्रतिष्ठा के समय कन्नौज, कुरुक्षेत्र आदि उत्तरीय प्रदेशों से एक हजार ब्राह्मणों को बुलाया और गाँव आदि देकर उन्हें वहीं रखा। उत्तर से आने के कारण वे 'धौदोच्य' कहलाए और गुजरात में बसने के कारण पीछे से उनकी संज्ञा भी द्रविड़ों में हो गई; जिनकी गणना वास्तव में गौड़ों में होनी चाहिए थी†।

अब हम क्षत्रियों के संबंध में कुछ विवेचन करते हैं।

ब्राह्मणों की तरह क्षत्रियों का भी समाज में बहुत ऊँचा स्थान था। इनके मुख्य कर्तव्य प्रजा-पालन, दान, यज्ञ, अध्ययन आदि थे। राज्य के शासक, सेनापति और योद्धा क्षत्रिय और उनके प्रायः ये ही होते थे। ब्राह्मणों के साथ अधिक कर्तव्य रहने से क्षत्रिय लोगों—विशेषतः राजकीय वर्ग—में शिक्षा का प्रचार बहुत अच्छा था। बहुत से राजा बड़े बड़े विद्वान् हुए हैं। हर्षवर्धन साहित्य का अच्छा विद्वान् था। पूर्वीय चालुक्य राजा विनयादित्य गणित का बड़ा पंडित था, जिससे उसे गुणक कहते थे। राजा भोज की विद्वत्ता लोकप्रसिद्ध है।

* चि० वि० वैद्य; हिस्ट्री ऑफ़ मिडिएवल इंडिया; जिल्द २, पृष्ठ ३०२—३११।

† मेरा राजपूताने का इतिहास; जिल्द १, पृष्ठ २१२।

उसने वास्तुविद्या, व्याकरण, अलंकार, योगशास्त्र और ज्योतिष आदि विषयों पर कई उपयोगी और विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ लिखे। चौहान विग्रह-राज (चतुर्थ) का लिखा हुआ 'हरकेलिनाटक' आज शिलाओं पर खुदा हुआ उपलब्ध है। इसी तरह कई अन्य राजाओं के भी ग्रंथ मिलते हैं। वर्ण-व्यवस्था के विशुद्ध रूप में कायम न रहने तथा बहुत से क्षत्रियों के पास भूमि न रहने के कारण वे बंकार हो गए और उन्होंने भी ब्राह्मणों की तरह अन्य पेशे इस्तिथार करने शुरू किए। इसका एक परिणाम यह हुआ कि क्षत्रिय दो श्रेणियों में बँट गए। एक तो वे क्षत्रिय जो अब भी अपने कार्य करते थे और दूसरे वे जिन्होंने कृषि आदि दूसरे पेशे शुरू कर दिए थे। इन्न सूरदाद ने भारत में जो सात श्रेणियाँ बताई हैं, उनमें से सबकुक्षिय और कटरिय संभवतः येही दोनों श्रेणियाँ हैं*।

क्षत्रिय लोग भी शुरू में बहुधा मद्य नहीं पीते थे। अल्-मसऊदी लिखता है कि यदि कोई राजा शराब पी ले, तो वह शासन करने के योग्य नहीं समझा जाता†।

हुएन्संग के समय तक क्षत्रिय भी ब्राह्मणों की तरह जीवन में बहुत उन्नत थे। वह लिखता है—'ब्राह्मण और क्षत्रिय बहुत शुद्ध, बाह्याडंबरों से दूर, जीवन में सरल और पवित्र तथा मितव्ययी होते हैं।'

प्रारंभ में क्षत्रिय भी अधिक वंशों में बँटे हुए नहीं थे। महा-भारत और रामायण में सूर्य और चंद्र वंशियों का वर्णन आता है और यह वंश-भेद समय के साथ साथ बढ़ता गया। राजतरंगिणी

* चि० वि० वैद्य; हिस्ट्री ऑफ मिडिपवल् इंडिया; जिल्द २, पृष्ठ १७१—८०।

† इलिषट; हिस्ट्री ऑफ इंडिया; जिल्द १, पृ० २०

में ३६ वंशों का उल्लेख है। अब तक भी चत्रिय वर्ण ऐसा रहा है, जिसमें जाति-भेद नहीं है।

वैश्यों के मुख्य कार्य पशु-पालन, दान, यज्ञ, अध्ययन, वाणिज्य, कुसीद (व्याज-वृत्ति) और कृषि थे। बौद्ध काल में वर्णव्यवस्था

शिथिल होने से उसका रूपांतर हो गया।
वैश्य और उनका कर्तव्य

बौद्धों और जैनियों के मतानुसार कृषि करना पाप माना गया, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं। इसके अनुसार वैश्य लोगों ने सातवीं सदी के प्रारंभ में ही कृषि को नीच कार्य समझकर छोड़ दिया था। हुएन्त्संग वैश्यों के विषय में लिखता है कि तीसरा वर्ण वैश्यों या व्यापारियों का है, जो पदार्थों का विनिमय करके लाभ उठाता है। चौथा वर्ण शूद्रों या कृषकों का है*।

वैश्यों ने भी कृषि कार्य छोड़कर दूसरे पेशे इस्तिथार करने शुरू किए। वैश्यों के राजकार्य करने, राजमंत्री होने, सेनापति बनने और युद्धों में लड़ने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। हमारे समय के अंतिम भाग में उनमें जाति-भेद उत्पन्न होने लगा, ऐसा शिलालेखों से पाया जाता है।

सेवा करनेवाले वर्ग का नाम शूद्र था। वह वर्ण अस्पृश्य नहीं था; ब्राह्मण, चत्रिय और वैश्यों की तरह शूद्रों को भी पंच महायज्ञ करने का अधिकार था। ऐसा पतंजलि-कृत महाभाष्य और उसके टीकाकार कैयट की (जो भट्टहरि के पीछे हुआ) टीका—‘महाभाष्यप्रदीप’—से जान पड़ता है†।

* वाट्स आन युवनचर्वांग; जिल्द १, पृष्ठ १६८।

† यज्ञाणामनिरवसितानाम् २ । ४ । १० ॥ इस सूत्र के भाष्य में पतंजलि ने लिखा है कि एवम् तर्हि यज्ञाकर्मणोऽनिरवसितानाम्। अर्थात् जो शूद्र यज्ञ कर्म से बहिष्कृत न हों, वे अबहिष्कृत समझे जावें। इसकी

शनैः शनैः इनके काम भी बढ़ते गए । इसका मुख्य कारण यह हुआ कि हिंदू समाज में बहुत से कार्यों, कृषि, दम्तकारी, कारीगरी आदि का करना तुच्छ समझा जाने लगा और वैश्यों ने शिल्प का कार्य भी छोड़ दिया । इसलिये हाथ के सब काम शूद्रों ने ले लिए । शूद्र ही किसान, लोहार, राज, रँगरेज, धोबी, तत्तक, जुलाहे, कुम्हार आदि हो गए । हमारे निर्दिष्ट समय में ही भिन्न भिन्न पेशों के अनुसार शूद्रों की बहुत जातियाँ बन गईं । किसान तो शूद्र ही कहलाए परंतु दूसरे पेशेवाले, भिन्न भिन्न जातियों में बँट गए । हुएन्त्संग लिखता है—बहुत से ऐसे वर्ग हैं, जो अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में से कोई भी नहीं मानते । अलबे-रुनी लिखता है—शूद्रों के बाद अंत्यजों का नंबर आता है, जो भिन्न भिन्न प्रकार की सेवा करते हैं और जो चारों वर्गों में नहीं गिने जाते । ये अंत्यज आठ श्रेणियों (Guilds) में विभक्त हैं—धोबी, चमार, मदारी, टोकरी और ढाल बनानेवाले, मछ्राह, धोवर, जंगली पशुओं और पक्षियों का शिकार करनेवाले तथा जुलाहे । चारों वर्गवाले इनके साथ नहीं रहते । शहरों, और गाँवों के पास ये लोग चारों वर्गों से अलग रहते हैं* । ज्यों ज्यों समय गुजरता गया, शूद्रों के अशिचित्त होने से इनका पाँच यज्ञों का अनुष्ठान भी छूटता गया ।

इन वर्गों के अतिरिक्त हिंदू समाज में दो एक अन्य विभाग भी थे । ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जो लोग लेखक कायस्थ अर्थात् अह्लकारी का काम करते थे वे कायस्थ कहलाते थे । पहले कायस्थों का कोई अलग भेद नहीं था । कायस्थ

टीका करते हुए कैप्ट ने लिखा है—यूदायां पंचयज्ञानुष्ठानेऽधिकारोऽस्तीति भावः । शूद्रोऽपि द्विविधो ज्ञेयः आर्द्धो चैवैतदस्तथा ॥ १० ॥

विष्णुस्मृति, अ० २ ।

अहल्कार का ही पर्याय शब्द है, जैसा कि आठवीं सदी के कोटा के पास के कणखवा के एक शिलालेख से पाया जाता है। ये लोग राजकार्य में भी भाग लेते थे, क्योंकि सरकारी दफ्तरों में नियत होने के कारण इन्हें बहुत सी गुप्त राजकीय बातें मालूम हो जाती थीं। ये लोग राजकीय पद्यों और कूटनीतियों में भी भाग लेते थे, इसी लिये याज्ञवल्क्य स्मृति में राजाओं को विशेषकर इनसे प्रजा की रक्षा करने का आदेश दिया गया है।

✓ पीछे से अन्य पेशेवालों के समान इनकी भी एक जाति बन गई, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का मिश्रण है। सूरजधज कायस्थ अपने को शाकद्वोपी (मग) ब्राह्मण बतलाते हैं और वालभ कायस्थ क्षत्रिय जाति के हैं, जैसा कि सोद्बल रचित 'उदयसुन्दरीकथा' से पाया जाता है।

भारत में अस्पृश्य जातियाँ केवल दो ही—चांडाल और मृतप—थीं। चांडाल शहर के बाहर रहते थे; शहर में आते समय वे बाँस की लकड़ी को जमीन पर पीटते रहते थे और जंगलों में से पशुपक्षियों को मारकर उनके मांस के विक्रय से अपना निर्वाह करते थे। मृतप श्मशानों की चौकी करते और शवों के कफन आदि लेते थे।

हिंदू समाज के इन भिन्न भिन्न विभागों के संक्षिप्त वर्णन के बाद इन सब वर्णों के पारस्परिक संबंध पर कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। इन चारों वर्णों में संबंध वर्णों का परस्पर संबंध अच्छा था और परस्पर विवाह संबंध होते थे। सवर्ण विवाह श्रेष्ठ होने पर भी अन्य वर्णों से विवाह करना धर्म-शास्त्र के प्रतिकूल न था। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-कन्या से भी ब्राह्मण विवाह कर सकता था। याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण के लिये शूद्र-कन्या से विवाह का निषेध किया था, परंतु हमारे निर्दिष्ट

समय तक यह भी विद्यमान था। बाण ने शूद्र स्त्री से पैदा हुए ब्राह्मण के पुत्र पारशव का उल्लेख किया है। इसी तरह मंडोर के प्रतिहारों के वि० सं० ८६४ (ई० सं० ८३७) और ८१८ (ई० सं० ८६१) के लेखों में ब्राह्मण हरिश्चंद्र का क्षत्रिय-कन्या भद्रा से विवाह होने का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण कवि राजशेखर ने भी चौहान कन्या अवंतिसुंदरी से विवाह किया था। दक्षिण में भी क्षत्रियों की स्त्री से ब्राह्मणों के विवाह होने के उदाहरण मिलते हैं। गुलवाड़ा गाँव के पास की बौद्ध गुफा के एक लेख में कल्लूरवंशीय ब्राह्मण सोम का ब्राह्मण और क्षत्रिय कन्याओं से विवाह होने का वर्णन मिलता है*। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की कन्या से विवाह कर सकता था, परंतु ब्राह्मण की कन्या से नहीं। दंडो कृत 'दशकुमारचरित' से पाया जाता है कि पाटलिपुत्र के वैश्रवण की पुत्री सागरदत्ता का विवाह कोसल के राजा कुसुमधन्वा के साथ हुआ था†। ऐसे और भी कई उदाहरण मिलते हैं। इसी तरह वैश्य शूद्र की कन्या से विवाह कर सकता था। सारांश यह है कि हमारे निर्दिष्ट समय में अनुलोम विवाह की प्रथा थी, प्रतिलोम की नहीं। ये संबंध उन शूद्रों के साथ, जिनको पंच महायज्ञों का अधिकार नहीं था, नहीं होते थे।

प्राचीन काल में पिता के वर्ण से पुत्र का वर्ण माना जाता था। ब्राह्मण का किसी भी वर्ण की कन्या से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण ही समझा जाता था, जैसे कि ऋषि पराशर के धीवरी से उत्पन्न पुत्र वेदव्यास और रेणुका (क्षत्रिय कन्या) से उत्पन्न जमदग्नि के पुत्र परशुराम ब्राह्मण कहलाए। पीछे से यह प्रथा बदल गई, अर्थात् माता के वर्ण के अनुसार पुत्र का वर्ण माना जाने लगा। क्षत्रिय-कन्या से

* नागरी-प्रचारिणी पत्रिका; नवीन संस्करण; भाग ६, पृ० १६७—२००।

† दशकुमारचरित; विभूत कथा।

उत्पन्न ब्राह्मण का पुत्र क्षत्रिय ही माना जाता था, जैसा कि शंख और उशनस आदि स्मृतियों से पाया जाता है* ।

परस्पर के ये विवाह-संबंध शनैः शनैः कम होते गए और फिर अपने अपने वर्णों में होने लगे । हमारे निर्दिष्ट काल के पीछे यह प्रवृत्ति बढ़ते बढ़ते केवल अपनी उपजातियों तक ही परिमित रह गई ।

आज की भाँति प्राचीन काल में भिन्न भिन्न वर्णों में छूतछात और साथ खाने पीने का परहेज नहीं था । ब्राह्मण अन्य सब वर्णों के हाथ

का भोजन खाते थे जैसा कि व्यास-स्मृति के

छूतछात

“नापितान्वयमित्रार्द्धसोरिणो दासगोपकाः ।

शूद्राणामप्यमीषां तु भुक्त्वाऽन्नं नैव दुष्यति” से पता लगता है† ।

वर्तमान भेद-भाव हमारे समय के अंतिम भाग में भी प्रचलित नहीं हुआ था । अलबेरुनी लिखता है कि चारों वर्णवाले इकट्ठे रहते और एक दूसरे के हाथ का खाते पीते थे‡ । संभव है कि यह कथन उत्तरी भारत से संबंध रखता हो । दक्षिणी भारत में शाकाहारियों ने मांसाहारियों के साथ खाना छोड़ दिया था । यह भेद-भाव शनैः शनैः सभी वर्णों में बढ़ता गया ।

भारतवर्ष ने केवल आध्यात्मिक उन्नति की ओर ही ध्यान नहीं दिया, उसने भौतिक उन्नति की तरफ भी पर्याप्त ध्यान दिया था ।

प्राचीन भारतीय यदि ब्रह्मचर्य्य, वानप्रस्थ आदि आश्रमों में तपस्या को मुख्य स्थान देते थे, तो गृहस्थाश्रम में जीवन के सांसारिक आनंद भी भोगते थे । संपन्न लोग बड़े बड़े आलीशान मकानों में

* राजपूताने का इतिहास; जिल्द १, पृष्ठ १४७—४८ ।

† चि० वि० वैद्य, हिस्ट्री आफ मीडिप्वाल इंडिया; जि० १, पृष्ठ ६१—६३, जि० २, पृ० १७८—८२ ।

‡ व्यासस्मृति—अध्याय ३, श्लोक २५ ।

§ अलबेरुनी इंडिया; जिल्द १, पृ० १०१ ।

(५१)

रहते थे। खाने, पीने, सोने, बैठने, अतिथियों के रहने, संगीत, वाद्य आदि के लिये भिन्न भिन्न कमरे होते थे। कमरों में वायु संचार के लिये अच्छा प्रबंध रहता था। शहर के सामाजिक जीवन को आनंदमय बनाने के लिये समय समय पर बड़े बड़े मेले हुआ करते थे, जहाँ लोग हजारों की तादाद में सम्मिलित होते थे। हर्ष के समय हुएन्त्संग ने प्रति पाँचवें वर्ष होनेवाले धर्म-सम्मेलन का वर्णन किया है, जिसमें हर्ष भिक्षुओं को दान दिया करता था। इसके अतिरिक्त अन्य शुभावसरों पर भिन्न भिन्न स्थानों में भी मेले हुआ करते थे। ऐसे धार्मिक मेले केवल आनंद के लिये नहीं होते थे, परंतु आर्थिक दृष्टि से भी इनका महत्त्व बहुत था। इन मेलों में दूर दूर से व्यापारी आते थे और सामान खरीद फरोख्त होता था। मेलों की यह प्रथा आज भी भारत में विद्यमान है। इन मेलों में समारोह बहुत होता था। बहुत से त्यौहारों के अवसरों पर भी मेले किए जाते थे, जैसा कि रत्नावली में वसंतोत्सव के उल्लेख से पाया जाता है। हिंदुओं में त्यौहारों का प्राधान्य है, वे उन्हें बहुत समारोह से मनाते थे। इन मेलों का हिंदुओं के सामाजिक जीवन में बहुत भाग था। होली के उत्सव में पिचकारी द्वारा रंग फेंकने का भी रिवाज था, जैसा कि हर्ष ने रत्नावली में वर्णन किया है*। लोगों के दिल बहलाने के लिये नाटक-गृह या प्रेक्षागृहों का उल्लेख भी मिलता है। इसी तरह गान-भवनों, चित्रशालाओं आदि का भी वर्णन मिलता है, जिनमें नागरिक जाकर आनंद करते थे। नाटक, नृत्य, संगीत और चित्रकला का विकास कितना हो चुका था†, इस पर आगे प्रकाश डाला

* धारापत्रविमुक्तसंततपयः पूरप्लुते संपतः ।

सद्यः सांद्रविमर्दकर्मकृतकीडे क्षपां प्रांगणे ॥ ११ ॥

रत्नावली; अंक १ ।

† राधाकुमुद मुकुर्जी; हर्ष, पृ० १०५-१०६ ।

जायगा । कभी कभी उपवनों में बड़े बड़े भोजों की भी व्यवस्था की जाती थी, जिनमें बहुत से स्त्री-पुरुष सम्मिलित होते थे । लोग तोता मैना आदि पक्षियों का पालने के शौकीन थे । वे मुर्गों, तीतरों, भैंसों, मेढ़ों और हाथियों की परस्पर लड़ाई कराकर विनोद करते थे । बड़े बड़े मल्ल कुश्ती भी लड़ते थे । सवारी के लिये घोड़ों, हाथियों, रथों और पालकियों का प्रयोग होता था । जल-विहार भी बहुत होता था, जिसमें नौकाओं का प्रयोग किया जाता था । जल-विहार में स्त्रियाँ और पुरुष सभी सम्मिलित होते थे । स्त्री पुरुष मिलकर भूला भूलते थे । दोलोत्सव विशेषतः वर्षा ऋतु में हुआ करता था । इस प्रथा का आज भी प्रायः सारे भारत में प्रचार है । इन सब आनन्दप्रद उत्सवों और प्रथाओं के अतिरिक्त शतरंज, चौपड़ आदि खेल भी खेले जाते थे । उस समय जुए का भी बहुत प्रचार था, परन्तु उस पर निरीक्षण रहता था । दूत-गृहों पर सरकारी कर लगता था, जैसा कि शिलालेखों आदि से पाया जाता है* ।

चित्रिय लोग आखेट भी बहुत करते थे । राजा और राज-कुमार अपने दल बल के साथ शिकार करने जाया करते थे । यह शिकार तीर, भालों आदि से होता था । शिकार में कुत्ते आदि भी साथ रहते थे ।

कुछ विद्वानों का खयाल है कि हर्ष के समय तक भारत में सीने की कला का प्रचार नहीं हुआ था† । वे अपने पक्ष की युक्ति में हुएन्त्संग का एक कथन‡ पेश करते हैं; परन्तु
 वल उनका यह मत भ्रांतिपूर्ण है । भारत में सब प्रकार के शीत, उष्ण और शीतोष्ण प्रदेश होने के कारण भिन्न भिन्न

* वि० सं० १००८ (ई० स० १५१) के उदयपुर के निकट के सारणेश्वर में लगे हुए प्राचीन शिलालेख से ।

† वि० वि० वैद्य; हिस्ट्री आफ़ मिडिएवल इंडिया; जि० १, पृ० ८१ ।

‡ वाटर्स आन युवनच्वांग; जि० १, पृ० १४८ ।

स्थानों में अत्यंत प्राचीन काल से आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे । वेदों तथा ब्राह्मण ग्रंथों में सुई का नाम 'सूची*' या 'वेशी†' मिलता है । तैत्तिरीय ब्राह्मण में सुई के तीन प्रकार की अर्थात् लोहे, चाँदी, और सोने की होने का उल्लेख है‡ । ऋग्वेद में कैंची को 'भुरिज§' कहा है । सुश्रुत संहिता में बारीक ढोरे से सीने 'सीव्येत् सूक्ष्मेण सूत्रेण' का वर्णन है । रेशमी चोगे को 'तार्य्य+' और ऊनी कुरते को 'शामूल×' कहते थे । 'द्रापि॥' भी एक प्रकार का सिया हुआ वस्त्र था, जिसके विषय में सायण लिखता है कि वह युद्ध के समय पहना जाता था । सिर्क कपड़ा ही नहीं, चमड़ा भी सिया जाता था । चमड़े की भस्त्रो (शैलो) का भी वर्णन वैदिक साहित्य तक में मिलता है ।

अपने निर्दिष्ट काल से पूर्व की इन बातों को लिखने से हमारा अभिप्राय यही सिद्ध करना है कि हमारे यहाँ सीने की कला बहुत प्राचीन काल से विद्यमान थी ।

हमारे निर्दिष्ट समय में स्त्रियों का मामूली वस्त्र अंतरीय अर्थात् साड़ी थी, जो आधी पहनी और आधी ओढ़ी जाती थी । बाहर जाने के समय उस पर उत्तरीय (दुपट्टा) रहता था । स्त्रियाँ नाचने के समय लहंगे जैसा जरी के काम का वस्त्र पहनती थीं, जिसका नाम 'पेशस्' था॥ । मथुरा के कंकाली टीले से मिली हुई

* ऋग्वेद २।३२।४ ॥

† वही; ७।१८।१४ ॥

‡ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।३।६ ॥

§ ऋग्वेद ८।४।१६ ॥

+ अथर्ववेद १८।४।३१ ॥

× जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १।३८।४ ॥

॥ ऋग्वेद १।२२।१३ ॥

॥ ऋग्वेद २।३।६ ॥

एक शिला पर रानी और उसकी दासियों के चित्र अंकित हैं। रानी लहंगा पहने और ऊपर उत्तरीय धारण किए हुए है*। स्मिथ ने अपनी पुस्तक में एक जैनमूर्ति के नीचे दो श्रावक और तीन श्राविकाओं की खड़ी मूर्तियों के चित्र दिए हैं। ये तीनों स्त्रियाँ लहंगे पहने हुए हैं†। ये लहंगे आज के लहंगों के समान ही हैं। दक्षिण में, जहाँ लहंगे का रिवाज नहीं है, आज भी नाचते समय स्त्रियाँ लहंगा पहनती हैं। स्त्रियाँ छॉटवाले कपड़े भी पहनती थीं, जैसा कि अजंटा की गुफा में बच्चे को गोद में लिए हुए एक श्याम वर्ण की स्त्री के सुंदर चित्र से ज्ञात होता है। उसमें स्त्री कमर से नीचे तक आधी बाँहवाली सुंदर छॉट की अँगिया पहने हुई है‡। व्यापारी लोग रुई के चोगे और कुरते भी पहनते थे। दक्षिण के लोग सामान्य रूप से दो धोतियों से काम चलाते थे। धोतियों में सुंदर सुंदर किनारा भी होता था। एक धोती पहनते थे और एक ओढ़ते थे। कश्मीर आदि की तरफवाले कछनी (Halfpant) पहनते थे§।

इन कपड़ों में विविधता, सुंदरता और सफाई की ओर भी बहुत ध्यान दिया जाता था। हुएन्त्संग ने रुई, रेशम तथा ऊन के वस्त्रों का वर्णन किया है॥। राज्यश्री के विवाह के लिये तैयार कराए गए वस्त्रों का वर्णन करते हुए बाण लिखता है—रेशम, रुई, ऊन, साँप की केंचुली के समान महीन, श्वास से उड़ जानेवाले, स्पर्श से ही अनुमेय और इंद्रधनुष के समान रंगवाले कपड़ों से घर भर गया

* स्मिथ; मथुरा-एंटिक्विटीज; प्लेट १४।

† वही; प्लेट ८२।

‡ स्मिथ; आक्सफर्ड; हिस्ट्री आफ इंडिया; पृ० १२६।

§ राधाकुमुद मुकर्जी; इप; पृ० १७०—७१।

॥ रास बील; बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड; जिल्द १, पृ० ७२।

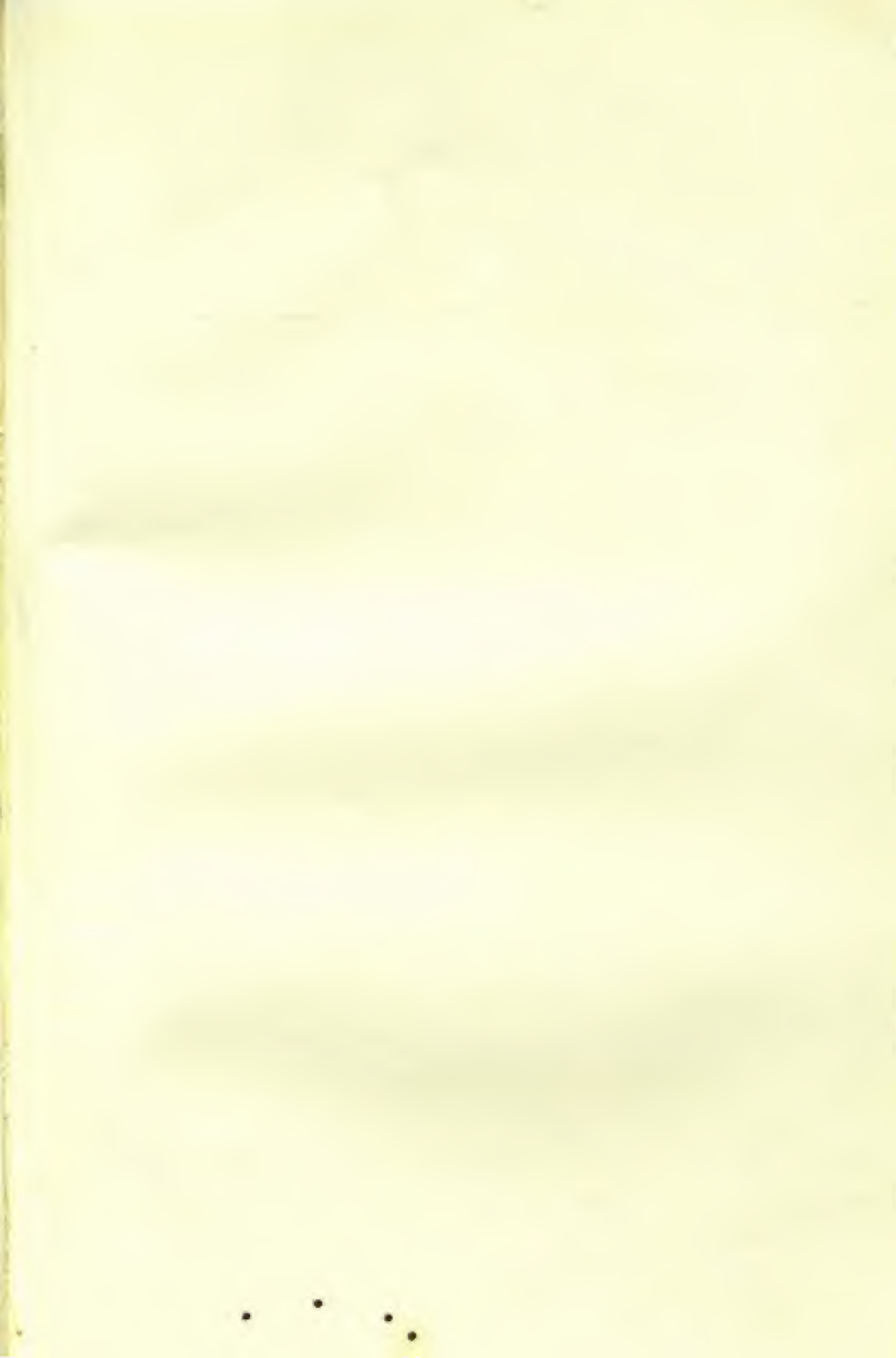


(१४) छोट की संगिया पहनी हुई स्त्री का चित्र
[खजंडा की गुफा]





(१२) भूपणादि से अलंकृत स्त्री का सिर
[राजपूताना म्यूजियम, अजमेर]





(१६) खो के तिर का केशविन्यास
[राजपूताना म्यूजियम, अजमेर]

था* । स्त्रियाँ प्रायः रंगीन कपड़े पसंद करती थीं । बौद्ध साधु प्रायः लाल, हिंदू संन्यासी भगवा और जैन (श्वेतांबर) साधु श्वेत या पीला कपड़ा पहनते थे । विधवाएँ प्रायः सफेद कपड़े पहनती थीं । राजा लोग सिर पर रत्नजटित मुकुट धारण करते थे । साधारण लोग पगड़ी (उष्णीष) बाँधते थे । वालों के शृंगार की तरफ भी काफी ध्यान दिया जाता था । पुरुष बड़े बड़े बाल रखते थे । स्त्रियाँ भिन्न भिन्न प्रकार के अत्यंत सुंदर केश-विन्यास करती थीं, जिनका पता उस समय की बनी हुई मूर्तियों से लगता है । बालों का पीछे जूड़ा भी बाँधा जाता था, जिस पर सुगंधित फूल लगाए जाते थे; सिर पर तरह तरह से मोतियों की लड़ें और रत्नजटित आभरण भी धारण किए जाते थे । ब्राह्मण लोग सिर और दाढ़ी के बाल कटवाते थे । क्षत्रिय लोग लंबे लंबे दाढ़ी रखते थे, जैसा कि बाण के एक सेनापति के वर्णन से पता लगता है । बहुत से लोग पैरों में जूते नहीं पहनते थे† ।

शरीर को सजाने के लिये गहनों का भी बहुत प्रयोग होता था । पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही गहनों के शौकीन थे । हृणत्संग लिखता है कि राजा और संपन्न लोग विशेष आभूषण पहनते हैं । अमूल्य मणियों और रत्नों के

आभूषण
हार, अँगूठियाँ, कड़े और मालाएँ उनके आभूषण हैं‡ । सोने चाँदी के रत्नजटित भुजबंद, सादे या मकराकृति सोने के कुंडल आदि बहुत से आभरण पहने जाते थे । कभी कभी स्त्रियाँ कानों के नीचे के भाग

* श्रीमैत्रेय आदिरथ दुःकूलथ लाळातन्मुनैरवांशुकैश्च नैत्रैश्च विमोक्त-
मौनैश्वासहायैः स्पर्शानुमेयैः वासोभिस्तर्पितः स्फुरदिन्द्रायुषसाश्रयिष सच्छा-
दितम् ।

हर्षचरित, पृ० २०२-३ ।

† चि० वि० वैद्य; हिस्ट्री आफ मिडिएवल इंडिया; जिल्द, १, पृ० १२—१३ ।

‡ वाट्स ध्यान युधनच्चांग; जि० १, पृ० ११ ।

को दो विभागों में छिदवाती थीं और प्रत्येक भाग में छेद कराकर उनके बीच तार डलवाती थीं जिसमें सोने आदि की कई कड़ियाँ रहती थीं । कान के नीचे के भाग को छेदकर उसमें भिन्न भिन्न प्रकार के आभूषण पहनने की रीति तो उनमें साधारण सी थी । ऐसे छिदे हुए कानवाली स्त्रियों की मूर्तियाँ कई अजायबघरों में संगृहीत हैं । पैरों में भी सादे या घुँघरूवाले जेवर पहने जाते थे । हाथों में कड़े और शंख तथा हाथीदाँत की तरह तरह के कामवाली चूड़ियाँ, बाहु पर भिन्न भिन्न प्रकार के भुजवंद, गले में उत्तम और बहुमूल्य हार और अँगुलियों में भिन्न भिन्न प्रकार की अँगूठियाँ पहनी जाती थीं । स्तन कहीं खुले, कहीं पट्टी बँधे हुए और कहीं चोली से ढँके हुए रहते थे । संपन्न स्त्री पुरुष सुगंधित पुष्पों की मालाएँ भी पहनते थे । चाँडालों की स्त्रियाँ पैरों में रत्नजटित गहने पहन सकती थीं* । प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार गहने पहनता था । किसी को कुछ पहनने की मनाई नहीं थी । नथ और बुलाक का उल्लेख प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता; संभव है, यह मुसलमानों से लिया गया हो† ।

विद्वान् लोग भी भिन्न भिन्न प्रकार की साहित्य-चर्चाओं द्वारा विनोद किया करते थे । ऐसी साहित्य-चर्चाएँ राजसभाओं या विद्वानों की मंडलियों में होती थीं । वाणभट्ट अपनी 'कादंबरी' में राजसभा में कुछ साहित्यचर्चाओं—काव्यप्रबंध की रचना, आख्यानाक कथाएँ, इतिहास और पुराणों के श्रवण, संगीत, अक्षर-च्युतक, मात्राच्युतक, विंदुमती, गूढ़ चतुर्थपाद, प्रहेलिका—आदि का वर्णन करता है‡ ।

* कादंबरी में चाँडाल-कन्या का वर्णन ।

† चि०वि०वैद्य; हिस्ट्री आफ़ मिडिएवल इंडिया; जिल्द २, पृ० १८०-८८ ।

‡ कादंबरी; पृ० १४, निर्णयसागर संस्करण ।

भोजन में शुद्धि और सफाई का बहुत खयाल रखा जाता था । इस्तिग ने इस संबंध में बहुत कुछ लिखा है । हुएन्त्संग ने लिखा है कि—“भारतीय स्वयं ही पवित्र रहते हैं, किसी दबाव के कारण नहीं । भोजन के पूर्व वे स्नान करते हैं । उच्छिष्ट भोजन पीछे किसी को नहीं खिलाया जाता । भोजन के पात्र एक के बाद दूसरे को नहीं दिए जाते । मिट्टी और लकड़ी के पात्र एक बार के प्रयोग के बाद प्रयुक्त नहीं होते । सोने, चाँदो, ताँबे आदि के पात्र शुद्ध किए जाते हैं* ।” यह शुद्धि आज भी पर्याप्त रूप से ब्राह्मणों आदि में विद्यमान है, यद्यपि अब इस पर कुछ कम ध्यान दिया जाने लगा है ।

भारतीयों का भोजन साधारणतया गेहूँ, चावल, ज्वार, बाजरा, दूध, घी, गुड़ और शक्कर था । अलू इदरिसी अनहिलवाड़े के प्रसंग में लिखता है—“वहाँ के लोग चावल, मटर, फलियाँ, उड़द, मसूर, मछली और अन्य पशुओं को, जो स्वयं मर गए हों, खाते हैं, क्योंकि वे कभी पशु-पक्षियों को मारते नहीं । महात्मा बुद्ध से पूर्व मांस का भी प्रचार बहुत था । जैन और बौद्ध धर्म के कारण शनैः शनैः यह कम होता गया; हिंदू धर्म के पुनरभ्युदय के समय जब बहुत से बौद्ध हिंदू हुए, तो अहिंसा और शाकाहार का धर्म भी साथ लाए । हिंदू धर्म में मांसाहार पाप समझा जाने लगा । मांस के प्रति बहुत विरक्ति हो गई थी । मसऊदी लिखता है कि ब्राह्मण किसी पशु का मांस नहीं खाते । स्मृतियों में भी ब्राह्मणों के मांस न खाने का विधान होने पर भी कुछ पिछली स्मृतियों में ब्राह्मणों के समय मांस खाने की आज्ञा दी गई है । इस पर व्यास-स्मृति में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि ब्राह्मणों में मांस न खानेवाला

* वाट्स आन युवनच्चांग; जिल्द १, पृष्ठ ११२ ।

† चि० वि० वैद्य; हिस्ट्री आफ़ मिडिक्वल इंडिया; जि० २, पृष्ठ ११२ ।

ब्राह्मण पतित हो जाता है* । शनैः शनैः मांस खाने की प्रवृत्ति बढ़ती गई और ब्राह्मणों के एक भाग ने मांसभक्षण आरंभ कर दिया । क्षत्रिय और वैश्य भी मांस खाते थे । दृष्टि और भेड़ बकरी के मांस के अतिरिक्त प्रायः अन्य मांस निषिद्ध थे । कभी कभी मछली भी खाई जाती थी । प्याज और लहसुन का प्रयोग वर्जित था और उनके खानेवाले प्रायश्चित्त के भागी समझे जाते थे ।

उत्तरीय भारत की अपेक्षा दक्षिण में मांस का प्रचार बहुत कम था । चांडाल सब प्रकार के मांस खाते थे, इसलिये वे सबसे अलग रहते थे ।

मद्य-पान का प्रचार भी प्रायः नहीं था । द्विजों को तो शराब बेचने की भी आज्ञा नहीं थी । ब्राह्मण तो मद्य बिलकुल नहीं पीते थे । अलमसऊदी ने राजाओं के विषय में लिखा है कि यदि कोई राजा मदिरा पी ले, तो वह राज्य करने के योग्य नहीं समझा जाता था, परंतु शनैः शनैः क्षत्रियों में मदिरा का प्रचार बढ़ता गया । अरबी यात्री सुलैमान लिखता है कि भारतीय शराब नहीं पीते । इसका कथन है कि जो राजा शराब पी ले, वह वास्तव में राजा नहीं है । आसपास में आपस के लड़ाई बखेड़े होते रहते हैं, तो वह राजा जो कि मतवाला हो, भला क्योंकर राज्य का प्रबंध कर सकता है† । वात्स्यायन के कामसूत्र से मालूम होता है कि श्रीमंत नागरिक लोग बाग बगीचों में जाते और वहाँ शराब भी पीते थे ।

उस समय स्वच्छता का विचार अवश्य था, परंतु परस्पर का भोजन निषिद्ध न था । छूतछात का विचार वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ पीछे से बढ़ा ।

* नारनीयादुत्तमयो मांसमनियुक्तः कथंचन ।

कतौ आदौ नियुक्तो वा अनरनन् पतति द्विजः ॥

† सुलेमान लौदागर; पृ० ७८ (नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित) ।

ऊपर लिखे हमारे वर्णन का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि भारतीय केवल भौतिक जीवन की तरफ बढ़े हुए थे। उनका आध्यात्मिक जीवन भी बहुत उन्नत था। बहुत सी धार्मिक बातें उनके जीवन का अंग बनी हुई थीं। पंच महायज्ञ गृहस्थी के लिये आवश्यक कर्तव्य थे। अतिथि-सत्कार तो बहुत बढ़ा हुआ था। यज्ञों में पशु-हिंसा बौद्ध धर्म के कारण कम हो चुकी थी। उसके साथ यज्ञों का होना भी अवश्य कम हो गया था, परंतु हिंदू धर्म के अभ्युदय के साथ फिर यज्ञ आरंभ हो गए थे। हमारे निर्दिष्ट काल में बड़े बड़े यज्ञों का उल्लेख बहुधा नहीं मिलता।

हिंदू समाज जहाँ इतना अधिक उन्नत था, वहाँ उसमें, किसी न किसी रूप में, दास-प्रथा भी विद्यमान थी। दास-प्रथा हमारे निर्दिष्ट

समय से बहुत काल पूर्व से चली आती थी।

दास-प्रथा

मनु और याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों में दास-प्रथा का वर्णन है। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर (बारहवीं शताब्दी) ने पंद्रह प्रकार के—गृहजात (घर की दासी से उत्पन्न), क्रीत (खरीदा गया), लब्ध (दानादि में मिला हुआ), दायदुपागत (वंशपरंपरागत), अनाकालभृत (दुर्भिक्ष में मरने से रक्षित), आहित (धन देकर अपने पास रखा हुआ), ऋणदास (कर्ज में रखा हुआ), युद्धप्राप्त (लड़ाई में पकड़ा हुआ), पणेजित (जुए आदि में जीता हुआ), प्रव्रज्यावसित (साधु होने के बाद बिगाड़कर दास बना हुआ), कृत (समय की शर्त के साथ रखा हुआ), कृत्रवाहृत (घर की दासी के लोभ से आया हुआ) और आत्मविक्रेता (अपने आपको बेचनेवाला)—दासों का उल्लेख किया है*। दास लोग जो कुछ कमाते थे उस पर उनके स्वामी

* गृहजातस्तथा क्रीतो लब्धो दायदुपागतः ।

अनाकालभृतस्तद्वदाहितः स्वामिना च यः ॥

का ही अधिकार होता था। कुछ लोग दासों की चोरी करके उनको बेचते भी थे।

यहाँ की दास-प्रथा अन्य देशों की दास-प्रथा की भाँति कल्पित, पृथित और निन्दनीय नहीं थी। ये दास घरों में परिवार के एक अंग की तरह रहते थे। त्यौहार आदि शुभ अवसरों पर दासों पर भी विशेष कृपा होती थी। जो दास अच्छा कार्य करते थे, उन पर स्वामी बहुत अधिक कृपा करते थे। राज्य की ओर से दासों के लिये विशेष दया के नियम बने हुए थे। याज्ञवल्क्य स्मृति में लिखा है कि जबर्दस्ती दास बनाए हुए और चोरों द्वारा खरीदे गए दासों को यदि स्वामी मुक्त न करे तो राजा उन्हें स्वतंत्र करा दे। किसी कठिन अवसर पर स्वामी के प्राण बचानेवाला भी मुक्त कर दिया जाता था*। नारदस्मृति में तो यहाँ तक लिखा है कि स्वामी के प्राण बचानेवाले को पुत्र की तरह जायदाद का भाग भी दिया जाय। जो कर्ज आदि लेकर दास बनते थे, वे स्वामी से लिया हुआ सब ऋण चुकाकर चाहे जब मुक्त हो सकते थे। इसी तरह अन्य प्रकार के दास भी मुक्त होते थे। अनाकालभूत दो गौवं देकर, आहित धन देकर, युद्धप्राप्त, स्वयं संप्रतिपन्न और पण्यजित दास कोई उत्तम सेवा कर या अपने स्थान पर प्रतिनिधि देकर मुक्त हो

मेचितो महत्स्वर्गायुदप्राप्तः पण्ये जितः ।

तवाहमित्युपगतः प्रयज्यावसितः कृतः ॥

भक्तदासश्च विज्ञेयस्तथैव बह्वाहृतः ।

विक्रेता चात्मनः शास्त्रे दासाः पञ्चदशस्मृताः ॥

मिताचरालहितः, पृ० २४६ ।

० बलादासीकृतचौरैर्विक्रीतश्चापि मुच्यते ।

स्वामिप्राणप्रदो भक्त त्यागाचक्षिक्कयादपि ॥

वही, पृ० २४६ ।

सकते थे* । मिताचरा में उस समय दास के मुक्त करने की विधि का भी उल्लेख है । स्वामी दास के कंधे से पानी का भरा हुआ घड़ा उठाता और उसे तोड़कर अक्षत, पुष्प आदि दास पर फेंकता तथा तीन बार 'अब तू दास नहीं है', यह कहकर उसे मुक्त कर देता† । यहाँ दास विश्वासपात्र निजी सेवक समझे जाते थे, उनके साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं होता था । ऐसी स्थिति में चीनी या अरब यात्रियों को हमारे यहाँ के सेवकों और दासों में अंतर मालूम नहीं पड़ा, इसी से उन्होंने दास-प्रथा का उल्लेख नहीं किया ।

साहित्य और विज्ञान की अत्यंत उन्नति होते हुए भी साधारण जनता में बहम बहुत थे । लोग भिन्न भिन्न जादू टोनों तथा भूत प्रेत आदि में विश्वास करते थे । जादू टोनों का प्रथा अत्यंत प्राचीन काल से भारतवर्ष में विद्यमान थी । अथर्ववेद में अभिचार, सम्मोहन, पीडन, वशीकरण, मारण आदि का वर्णन है । राजा के पुरोहित अथर्ववेद के विद्वान् होते थे । शत्रुओं को नष्ट करने के लिये राजा जादू और टोनों का भी प्रयोग कराते थे । हमारे समय में भी इनका बहुत प्रचार था । बाण ने प्रभाकरवर्धन की बीमारी के समय लोगों का पिशाच-वाधा मानना और उनका उपाय करना भी लिखा है‡ । कादंबरी में भी बाण ने पुत्र-प्राप्ति के लिये विलासवती का जादू के मंडलों में

* मिताचरा सहित; पृष्ठ २४६—२०१ ।

† स्व' दासमिच्छेयः कर्तुं मदासे प्रीतमानसः ।

स्कंधादादाय तस्यासौ भिषाकुम्भं सहाम्भसा ॥

साक्षताभिः सपुष्पाभिर्गुंधन्वश्चिरवाकिरेत् ।

अदास इत्यथोक्त्वा त्रिः प्राङ्मुखं तस्यासृजेत् ॥

यही; पृ० २२० ।

‡ हर्षचरित; पृ० १२४, निर्णयसागर संस्करण ।

दिकूपालों को प्रसन्न करने, ताबीज पहनने और गंडे बाँधने, गीदड़ों को मांसपिंड खिलाते तथा शकुन जाननेवालों का आदर करने का उल्लेख किया है* । ऐसे ही गर्भ के समय उसकी भूतों से रक्षा करने के लिये पलंग के नीचे राख के मंडल बनाने, गोरोचन से भोजपत्र पर लिखे मंत्रों के यंत्र बाँधने, कात्यायनी से रक्षा के लिये मोरपंखों के डरसने, सफेद सरसों के बिखेरने आदि क्रियाओं का भी बाण ने वर्णन किया है† । भवभूति ने 'मालतीमाधव' में इष्टसिद्धि के लिये अघोरघंट द्वारा बलिदान के लिये मालती को देवी के मंदिर में ले जाने का उल्लेख किया है । 'गौडवहो' में भी देवी की तुष्टि के लिये मनुष्यों और पशुओं की बलि का वर्णन है । इन सब बातों से पाया जाता है कि हमारे निर्दिष्ट समय में जादू टोनों की प्रथा विद्यमान थी; लोग भूत प्रेत, डाकिनी, शाकिनी आदि पर विश्वास करते थे । राजा लोग अपने शत्रु पर क्रुत्या (मारण) और मंत्रों द्वारा पावों के आराम कराने का प्रयोग भी करते थे, जैसा कि सोमेश्वर कवि के सुरघोत्सव काव्य से जान पड़ता है । देवियों की तुष्टि के लिये पशुओं और मनुष्यों की बलि देने की घृणित और निर्दय प्रथा भी उस समय कुछ कुछ विद्यमान थी ।

✓ इस विषय को समाप्त करने से पूर्व उस समय के लोगों के चरित्र पर भी दो चार शब्द कहना अप्रासंगिक न होगा । प्राचीन

काल से ही भारतीयों का चरित्र बहुत उज्ज्वल
 और प्रशंसनीय रहा है । मेगस्थनीज ने

भारतीयों के विषय में लिखा है कि "वे सत्य बोलते थे, चोरी नहीं करते थे, वे अपने घरों में ताला नहीं लगाते थे । वीरता में भारतीय एशियावासियों से बड़े चढ़े थे । वे गंभीर और श्रमशील थे ।

* कादंबरी; पृ० १२८—३०, निर्वायसागर संस्करण ।

† वही; पृष्ठ १३६—१७ ।

उन्हें मुकद्दमा कराने की आवश्यकता कभी न होती थी।” यह उच्च चरित्र अत्यंत प्राचीन समय में ही नहीं थे किंतु हमारे समय के यात्रियों ने भी ऐसे ही वर्णन किए हैं। हुएन्त्संग लिखता है कि भारतीय सरलता और ईमानदारी के लिये प्रसिद्ध हैं। वे अन्याय से धन-संचय नहीं करते। अल् इदरिसी लिखता है कि भारतीय लोग सदा न्यायपरायण रहते हैं और उससे विमुख कभी नहीं होते। उनके व्यवहार में भलाई, प्रामाणिकता और निष्कपटता प्रसिद्ध हैं और इन विषयों में वे इतने प्रसिद्ध हैं कि सब देशों के लोग उनके यहाँ पहुँचते हैं और इससे उनका देश समृद्ध हो गया है*। तेरहवीं सदी का शम्सुद्दीन अबु अब्दुल्ला बेदी इज्र जमाँ के फैसले को उद्धृत करते हुए लिखता है कि भारत की वस्ती बहुत घनी है। वहाँ के लोग धोखे और जबरदस्ती से अलग रहते हैं। वे जीने मरने की कुछ परवाह नहीं करते†। मार्को पोलो (तेरहवीं सदी) का कथन है कि ब्राह्मण उत्तम व्यापारी और सत्यवादी हैं। वे मद्य-मांस का उपयोग नहीं करते और संयमी जीवन व्यतीत करते हैं। वे चिरायु होते हैं‡। उस समय चत्रिय खाट पर मरना अपने लिये निंदनीय समझते थे। युद्धों में मरने के लिये वे लालायित रहते थे, परंतु ऐसा अवसर न मिलने पर वे कभी कभी पर्वत से लुढ़ककर (भृगुपतन), अग्नि में बैठकर जल मरते या जल में डूबकर मर जाते थे। बल्लाल सेन तथा धंगदेव के पानी में डूबने और मृच्छकटिक के कर्त्ता शूद्रक आदि के आग में जल मरने के उदाहरण मिलते हैं। कई ब्राह्मण जब देखते थे कि वे वृद्ध हो गए हैं, तब वे स्वयं अग्नि में जल मरते या पानी में कूद पड़ते थे।

* इजिप्ट; हिस्ट्री आफ इंडिया, जिल्द १, पृ० ८८।

† मैक्समूलर; इंडिया, पृष्ठ २७२।

‡ मार्को पोलो (मिल बूल द्वारा संपादित), जिल्द २, पृ० २२० और ३६०।

सिकंदर के समय में भी अग्नि में बैठकर मरनेवाले एक ब्राह्मण का वर्णन मिलता है। मार्को पोलो भी इस प्रथा का वर्णन करता है*।

भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान

किसी समाज की उन्नति तब तक पूर्ण नहीं समझी जा सकती जब तक उसमें स्त्रियों को उच्च स्थान न मिले। अत्यंत प्राचीन काल में भारत में स्त्रियों का आदर होता था इसलिये उन्हें अर्धाङ्गिनी का नाम दिया गया था। घर में उनका दर्जा बहुत ऊँचा था। यज्ञ यागादि में पति के साथ उनका बैठना आवश्यक समझा जाता था। रामायण और महाभारत में ही नहीं किंतु उनके बाद के नाटकों में भी स्त्रियों की स्थिति को अत्यंत उच्च बताया गया है। हमारे निर्दिष्ट समय तक भी समाज में स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा था। भवभूति और नारायण भट्ट आदि के नाटकों से जान पड़ता है कि उस समय स्त्रियों का विशेष मान और आदर किया जाता था।

पिछले समय की तरह उस समय में 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम्' प्रचलित न था। स्त्रियाँ भी पढ़ती थीं। बाण ने लिखा है कि राज्यश्री को बौद्ध सिद्धांतों की शिक्षा देने के लिये दिवाकरमित्र नियुक्त किया गया था। बहुत सी स्त्रियाँ बौद्ध भिक्षु भी होती थीं, जो निस्संदेह बौद्ध सिद्धांतों से भली भाँति परिचित होंगी। शंकराचार्य के साथ शास्त्रार्थ करनेवाली मंडनमिश्र की प्रकांड विदुषी पत्नी के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उसने शंकराचार्य को भी निरुत्तर कर दिया था। प्रसिद्ध कवि राजशेखर की चौहान पत्नी अवंति-सुंदरी बहुत विदुषी थी। राजशेखर ने अन्य विद्वानों से अपना मतभेद प्रकट करते हुए जहाँ और विद्वानों का मत दिखाया है, वहाँ उसने तीन स्थलों पर अवंति-सुंदरी का भी मित्र मत दिया है। उस (अवंति-सुंदरी) ने प्राकृत कविता

में आनेवाले देशी शब्दों का एक कोश भी बनाया, जिसमें प्रत्येक शब्द के प्रयोग के स्वरचित उदाहरण दिए थे। हेमचंद्र ने अपनी देशी नाममाला में दो जगह उसके मतभेद का उल्लेख कर उदाहरण में उसकी कविता उद्धृत की है। स्त्री-शिखा के विषय में राजशेखर अपने विचार इस तरह प्रकट करता है—“पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी कवि हों। संस्कार तो आत्मा में होता है, वह स्त्री या पुरुष के भेद की अपेक्षा नहीं करता। राजाओं और मंत्रियों की पुत्रियाँ, वेश्याएँ, कौतुकियों की स्त्रियाँ, शाखों में निष्णात बुद्धिवाली और कवयित्री देखी जाती हैं*। हमारे समय में बहुत सी स्त्रियाँ भी संस्कृत की कवि हुई हैं, जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—इंदुलेखा, मारुला, मोरिका, विज्जिका, शीला, सुभद्रा, पद्मश्री, मदालसा और लक्ष्मी। इतना ही नहीं, स्त्रियों को गणित की शिक्षा भी दी जाने के उदाहरण मिले हैं। भास्कराचार्य (बारहवीं सदी के अंत में) ने अपनी पुत्री लीलावती को गणित का अध्ययन कराने के लिये ‘लीलावती’ ग्रंथ लिखा। स्त्रियों को ललित कलाओं की तो विशेष शिक्षा दी जाती थी। राज्यश्री को संगीत, नृत्य आदि सिखाने का विशेष प्रबंध किए जाने का उल्लेख बाण ने किया है। हर्ष की रत्नावली में रानी का वर्तिका (ब्रश) से रंगीन चित्र बनाने का वर्णन है†। उसी में रानी को गीत, नृत्य, वाद्यादि के विषय में सलाह देनेवाली बताया है। खोज करने से इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण मिल सकते हैं।

उस समय पर्दा प्रचलित न था। राजाओं की स्त्रियाँ दरबारों में आती थीं। हुएन्त्संग लिखता है कि जिस समय बृह मिहिर-

* नागरी-प्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण) भाग २, पृ० ८०-८२।

† रत्नावली; अंक २।

कुल हारकर पकड़ा गया था, उस समय बालादित्य की राजमाता उससे मिलने गई थी* । हर्ष की माता राजदरबारियों से मिलती

थी । बाण ने कादंबरी में विलासवती का भिन्न

पदा

भिन्न शकुन जाननेवाले ज्योतिषियों, मंदिर के पुजारियों और ब्राह्मणों से मिलने और महाकाल के मंदिर में जाकर महाभारत की कथा सुनने का वर्णन किया है । राज्यश्री हुएन्त्संग से स्वयं मिली थी । तत्कालीन नाटकों में भी पदों का कोई उल्लेख नहीं है । यात्री अबुजैद ने भी राज दरबारों में देशियों और विदेशियों के सामने स्त्रियों के उपस्थित होने का उल्लेख किया है । मेलों और उपवनों में पुरुषों के साथ साथ स्त्रियों के जाने का उल्लेख कामसूत्र आदि में मिलता है । स्त्रियाँ राजा के सेवक का कार्य भी करती थीं और दरबार, हवाखोरी, लड़ाई आदि में उनके साथ रहती थीं । वे शस्त्र धारण कर घोड़ों पर सवार होती थीं । कहीं कहीं युद्ध के समय रानियों और अन्य स्त्रियों के पकड़े जाने का भी उल्लेख मिलता है । दक्षिण के पश्चिमी सोलंकी विक्रमादित्य की बहिन अक्कादेवी वीर प्रकृति की और राजकार्य में निपुण थीं और चार प्रदेशों पर शासन भी करती थीं । एक शिलालेख से पाया जाता है कि उसने गोकामे (गोकक, बेलगाँव जिले में) के किले पर भी घेरा डाला था । इसी तरह ऐसे अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि उस समय पदों की प्रथा विद्यमान नहीं थी । इतना निश्चित है कि राजाओं के अंतःपुर में सर्व साधारण का प्रवेश नहीं होता था । मुसलमानों के आने के बाद से पदों का प्रचार हुआ । उत्तरीय भारत में मुसलमानों का जोर अधिक होने से वहाँ शनैः शनैः पदें एवं घूँघट की प्रथा बड़े घरों में चली, परंतु जहाँ उनका अधिक प्रभाव नहीं हुआ, वहाँ

* वाट्स ध्यान युवनर्चांग, जिल्द १, पृ० २८८—२८९ ।

पर्दा या घूँघट नहीं चला । आज भी राजपूताने से दक्षिण के सारे भारतवर्ष में पर्दे की प्रथा नहीं है और कहीं है भी तो नाम मात्र को ।

मनुस्मृति में, जो हमारे समय से पूर्व बन चुकी थी, आठ प्रकार के—ब्राह्म, दैव, आर्प, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच—विवाहों का उल्लेख है । बहुत संभव

विवाह

है, उस समय विवाह के ये प्रकार थोड़े

बहुत प्रचलित हों, परंतु इनका प्रचार कम हो रहा था । याज्ञवल्क्य ने इन आठों का उल्लेख कर पहले चार को ही करने योग्य बताया है । विष्णु और शंख स्मृतियों में भी पहले चार को ही ग्राह्य बताया है । हारीत स्मृति में तो केवल ब्राह्म विवाह को ही उचित कहा गया है ।

कुलीन घरों में बहु विवाह की प्रथा विद्यमान थी । राजा, सरदार आदि धनाढ्य लोग प्रायः कई विवाह करते थे । एक शिलालेख में कलचुरी राजा गांगेयदेव के मरने पर उसकी बहुत सी स्त्रियों के सती होने का उल्लेख है । उस समय तक बाल-विवाह की प्रथा आरंभ नहीं हुई थी । कालिदास ने शकुंतला के साथ दुष्यंत के मिलने का उल्लेख किया है, उस समय शकुंतला बड़ी हो गई थी । गृह्यसूत्रों में विवाह के कुछ समय बाद गर्भाधान करने का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि कन्या उस समय तक बड़ी हो जाती थी । मनुस्मृति में कन्या की आयु १६ वर्ष दी है । राज्यश्री की भी विवाह के समय १४ वर्ष की अवस्था थी । कादंबरी में वर्णित महाश्वेता या कादंबरी की आयु भी विवाह योग्य हो गई थी । हाँ, हमारे निर्दिष्ट काल के अंतिम समय में बाल-विवाह की प्रथा आरंभ अवश्य हो गई थी । मुसलमानों के आने के बाद इस प्रथा का अधिक प्रचार हुआ । विधवा-विवाह की प्रथा यद्यपि पहले की तरह उस समय प्रचलित नहीं थी, फिर भी उसका एकदम अभाव न था ।

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी विधवा-विवाह का वर्णन है। विष्णु ने तो यहाँ तक लिखा है कि असंभुक्त विधवा के दूसरी बार विवाह से उत्पन्न पुत्र जायदाद के भी अधिकारी हैं। पराशर तक ने लिखा है कि यदि किसी स्त्री का पति मर गया हो, या साधु बन गया हो, लापता हो गया हो या नपुंसक या पतित हो गया हो तो वह पुनर्विवाह कर सकती है*। प्रसिद्ध जैनमंत्रो वस्तुपाल तेजपाल का विधवा से उत्पन्न होना प्रसिद्ध ही है। इस प्रथा का प्रचलन शनैः शनैः कम होता गया और अंत में द्विजों में यह प्रथा बिलकुल नष्ट हो गई। अलवेरुनी लिखता है कि एक स्त्री दूसरी बार विवाह नहीं कर सकती। विधवाओं के बल वेशभूषा आदि भी सब दूसरी तरह के थे, जैसा कि राज्यश्री के विधवा होने पर बाण के 'बध्नातु वैधव्यवेणी' लिखने से पाया जाता है। आज भी प्रायः उच्च कुलों में विधवा-विवाह नहीं होता, परंतु बहुत सी जातियों में विधवा-विवाह प्रचलित है।

सती प्रथा का कुछ कुछ प्रचलन भी हमारे निर्दिष्ट काल के पूर्व से चला आता था। यह प्रथा हमारे समय में किसी प्रकार बढ़ती गई। हर्ष की माता के स्वयं अग्नि में जल

सती प्रथा

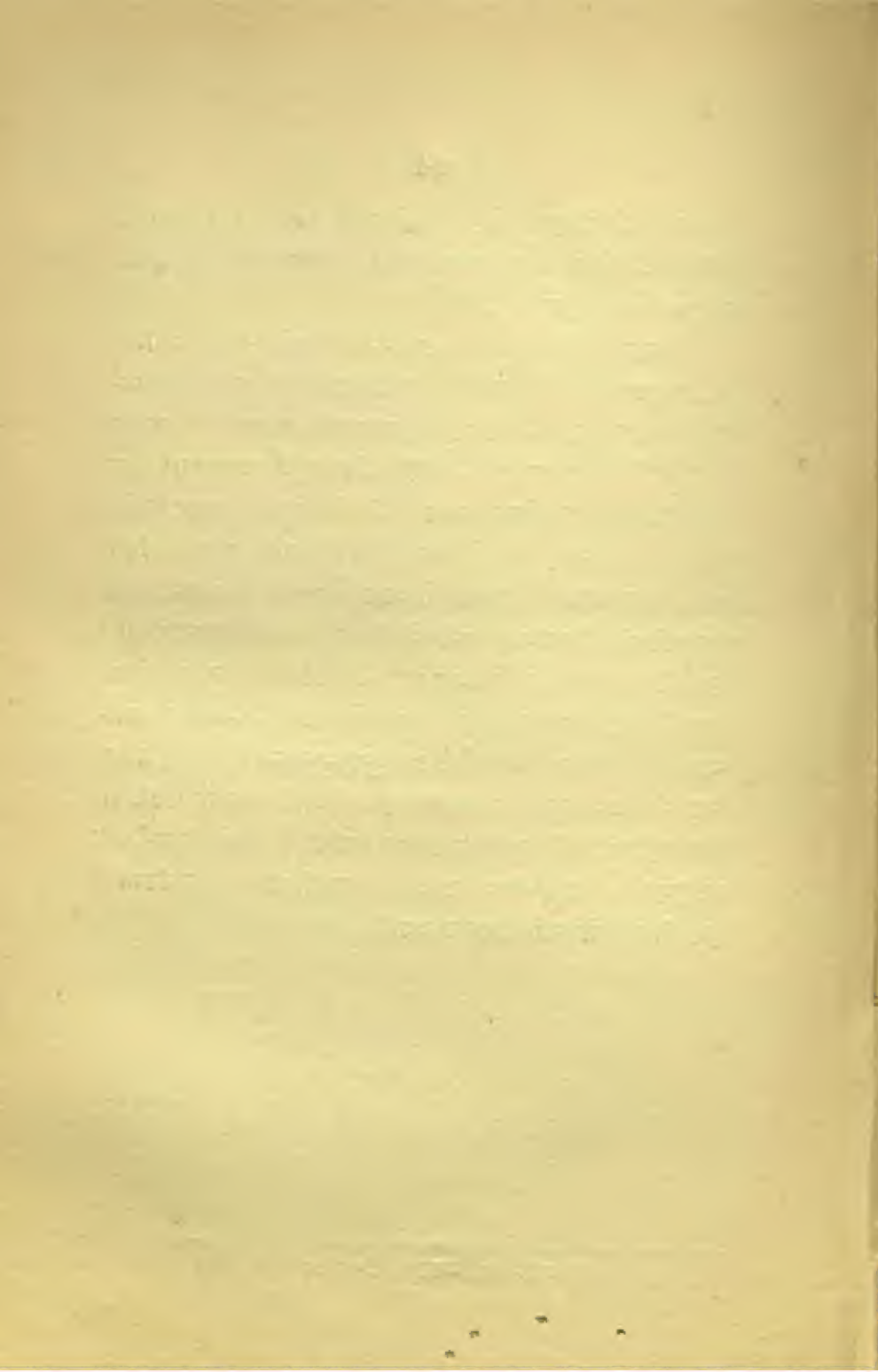
मरने का वृत्तांत हर्षचरित में मिलता है। राज्यश्री भी अग्नि में कूदने को तैयार हो गई थी, परंतु उसे हर्ष ने रोक लिया। हर्ष रचित प्रियदर्शिका में विंध्यकेतु की स्त्री के सती होने का वर्णन मिलता है। इससे पूर्व छठी सदी के एक शिलालेख से भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की स्त्री के सती होने का उदाहरण मिलता है। अलवेरुनी लिखता है—“विधवाएँ या तो तपस्विनी का जीवन व्यतीत करती हैं या अग्नि में जल जाती हैं। राजाओं

* नष्टे गृहे प्रयजिते बह्वीवे च पतिते पति ।

पशुस्त्रापास्तु नारीणां पतिरन्ये विधीयते ॥

की स्त्रियाँ, यदि वे वृद्ध न हों, सती हो जाती हैं* ।” सब विधवाओं के लिये सती होना आवश्यक नहीं था । जिस किसी की इच्छा होती, वही सती हुआ करती थी ।

ये प्रथाएँ होते हुए भी साधारणतः स्त्रियों की सामाजिक स्थिति बहुत उच्च थी । उनका पूर्ण आदर होता था । उनकी जो दिन-चर्या वेदव्यास स्मृति में दी गई है, वह पढ़ने लायक है । उसका सारांश नीचे दिया जाता है—पत्नी पति से पूर्व उठकर घर साफ करे, स्नान करे और भोजन बनावे । पति को भोजन कराकर वैश्वदेव यज्ञ करे । तदनंतर स्वयं भोजन कर शेष दिन आय व्यय की चिंता करे । सायंकाल को फिर घर में झाड़ू चौका देकर भोजन बनावे और पति को खिलाए । घरों में स्त्रियों का पूरा सम्मान था । मनुस्मृति में लिखा है कि जिस घर में स्त्रियों का सम्मान किया जाता है, वहीं देवता रहते हैं । उसी में लिखा है—आचार्य उपाध्याय से, और पिता आचार्य से दस गुना सम्मान्य है, परंतु माता, पिता से हजार गुनी सम्माननीय है । उनकी कानूनी स्थिति भी कम नहीं थी । उनकी व्यक्तिगत संपत्ति के लिये राज-नियम बने हुए थे । उन्हें भी जायदाद मिल सकती थी । इस विषय में कुछ विस्तार से आगे लिखा जायगा ।



द्वितीय व्याख्यान

साहित्य

द्वितीय व्याख्यान

साहित्य

प्राचीन भारत का वाङ्मय बहुत विस्तृत, गंभीर तथा उन्नत था। सभी विषयों की तरफ भारतीय विद्वानों का पूरा ध्यान था। साहित्य, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित, विज्ञान, कलाकौशल आदि सभी विषय उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचे हुए थे। हम यहाँ क्रमशः इन विषयों की उन्नति का कुछ परिचय देने का यत्न करेंगे। यहाँ एक बात कह देना आवश्यक है कि प्राचीन काल में साहित्य से केवल ललित साहित्य, काव्य, नाटक, कथा, उपन्यास, अलंकार आदि विषय ही अभिप्रेत थे, परंतु आजकल साहित्य शब्द बहुत व्यापक होकर वाङ्मय के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है, जिससे विद्या संबंधी समस्त विषय उसके अंतर्गत हो जाते हैं।

हमारे निर्दिष्ट समय का साहित्य भाषा-संबंधी दृष्टि से तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है—

१—संस्कृत का साहित्य सबसे अधिक संपन्न है। उस समय संस्कृत ही राजकीय भाषा थी। राज्यकार्य इसी में होता था। शिलालेख, ताम्रपत्र आदि भी प्रायः इसी में लिखे जाते थे। इसके अतिरिक्त संस्कृत संपूर्ण भारतवर्ष के विद्वानों की भाषा थी, इस कारण भी संस्कृत का प्रचार प्रायः संपूर्ण भारत में था।

२—प्राकृत भाषा का सर्व साधारण में प्रचार था । यही बोल-चाल की भाषा थी । इसका भी साहित्य बहुत उन्नत था ।

३—दक्षिण भारत की तरफ यद्यपि पंडितों में संस्कृत का प्रचार था, तथापि वहाँ की बोलचाल की भाषा द्राविड़ों थी, जिसमें तामिल, तेलगू, मलयालम, कनाड़ी आदि भाषाओं का समावेश होता है । इनका साहित्य भी हमारे समय में उन्नत हुआ । अब हम क्रमशः इन तीनों भाषाओं के साहित्य पर विचार करते हैं ।

ललित साहित्य

साहित्य की दृष्टि से हमारा निर्दिष्ट समय बहुत उन्नत है । हमारे समय से बहुत पूर्व संस्कृत साहित्य का विकास हो चुका था पर इसकी वृद्धि हमारे समय में भी जारी रही । हम इस समय अन्य भाषाओं के विकास की तरह संस्कृत में भाषा-नियम संबंधी या शब्दों के रूप-संबंधी परिवर्तन नहीं पाते । इसका एक कारण है । इस समय से बहुत पूर्व—६०० ई० पूर्व के आसपास—आचार्य पाणिनि ने अपने व्याकरण के जटिल नियमों द्वारा संस्कृत को जकड़ दिया । पाणिनि के इन नियमों को तोड़ने का साहस संस्कृत के किसी कवि ने नहीं किया, क्योंकि हमारे पूर्वज पाणिनि को एक महर्षि समझते थे और उसमें उनकी अगाध भक्ति थी । उसके नियमों को तोड़ना वे पाप समझते थे । यह प्रवृत्ति हम लोगों में बहुत प्राचीन काल से चली आती है, तभी तो महाभाष्यकार ने पाणिनि के सूत्रों में कुछ स्थलों पर त्रुटियाँ दिखाते हुए भी अपने को पाणिनि के रहस्यों को समझ सकने में असमर्थ कहकर उसका आदर किया है । इस समय संस्कृत में ललित्य लाने की बहुत कोशिश की गई । इसका शब्द-भांडार बहुत बढ़ा । संस्कृत की

भिन्न भिन्न लेखन-शैलियाँ आविष्कृत हुईं । यह विकास ६०० ई० से नहीं, इससे बहुत पूर्व प्रारंभ हो चुका था । कविकुल-चूड़ामणि कालिदास, भास, अश्वघोष आदि भी अपने काव्यों द्वारा तत्कालीन साहित्य को सुसंपन्न कर चुके थे । महाभारत और रामायण भी उनसे पूर्व बन चुके थे, परंतु यह विकास यहीं तक नहीं रुक गया था । यह उन्नति बहुत समय तक जारी रही और हम देखते हैं कि ६०० ई० के बाद भी यह उन्नति-क्रम उसी तरह चलता रहा । हमारे निर्दिष्ट काल में सैकड़ों काव्य (गद्य और पद्य), नाटक, उपन्यास, कथाएँ एवं आख्यायिकाएँ लिखी गईं ।

भारतीय साहित्य के जितने ग्रंथ आज विद्यमान हैं, केवल उन्हें देखकर हम तत्कालीन साहित्य की उन्नति का ठीक ठीक अनुमान नहीं कर सकते । उस समय के लिखे हुए तत्कालीन साहित्य के कुछ उत्कृष्ट काव्य सैकड़ों संस्कृत ग्रंथ-रत्न नष्ट हो चुके हैं और बहुत से ऐसे गुप्त स्थानों में पड़े होंगे, जिनका अभी तक किसी को पता भी नहीं । आज जो ग्रंथ दैव की कृपा से बच गए हैं, उनकी संख्या बहुत थोड़ी है । फिर भी हमारे पास तत्कालीन संस्कृत साहित्य की स्थिति को जानने के लिये जो ग्रंथ बचे हैं, वे पर्याप्त हैं ।

इस समय उपलब्ध तत्कालीन काव्यादि साहित्य से पता लगता है कि उस समय का बहुत सा ऐसा साहित्य रामायण और महाभारत की घटनाओं से भरा हुआ है । यदि हम रामायण और महाभारत की कथाओं से संबद्ध सब पुस्तकों को अलग कर दें, तो अवशिष्ट पुस्तकों की संख्या बहुत थोड़ी रह जायगी । यहाँ हम संस्कृत के कुछ उत्कृष्ट काव्यों का परिचय देते हैं ।

किरातार्जुनीय—इसका कर्ता भारवि सातवीं सदी में हुआ था । इसका संबंध महाभारत की घटनाओं से है । यह काव्य केवल

साहित्य की दृष्टि से ही नहीं, नीतिशास्त्र की दृष्टि से भी एक उत्कृष्ट ग्रंथ है। अर्थ-गौरव इसका विशेष गुण है। इसके अंतिम भाग में कवि ने शब्द-वैचित्र्य के बहुत अद्भुत और उत्तम उदाहरण दिए हैं। एक श्लोक में तो 'न' के सिवा और कोई अक्षर ही नहीं, सिर्फ अंत में एक 'त' है*।

अमरुशतक भी एक उच्चकोटि का काव्य है। इसके विषय में प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर मैकडॉनल ने लिखा है कि इस पुस्तक का लेखक प्रेमियों की प्रसन्नता और दुःख, क्रोध तथा भक्ति के भावों को दिखाने में सिद्धहस्त है।

भट्टिकाव्य—इसे भट्टि ने, जो वलभी के राजा धरसेन का आश्रित था, साहित्य के रूप में शुष्क व्याकरण के रूप सिखाने के साथ-साथ राम की कथा का वर्णन किया है।

शिशुपाल वध—इसमें कृष्ण द्वारा शिशुपाल के वध की कथा है। इसका कर्ता माध कवि सातवीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ था। इस काव्य में रचना-सौंदर्य के साथ उपमा, अर्थ-गौरव एवं पदलालित्य का अच्छा चमत्कार है। इसकी कविता के विषय में प्रसिद्ध है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।

दण्डिनः पदलालित्यं माघे संति त्रयो गुणाः ॥

नलोदय—इसमें नलदमयंती की कथा है। इसकी वर्णनशैली और छंदों की विविधता विशेष महत्व की है। तुकों का चमत्कार इसकी एक विशेषता है। वे केवल अंत में नहीं मध्य में भी आए हैं। यह ग्रंथ संस्कृत साहित्य में एक नई चीज है।

* न नोनमुन्नो नुन्नो नो नाना नानानना ननु ।

नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नो नो नानेनानुन्ननुन्ननुत् ॥

किराताहुनीय; सर्ग १२, श्लोक १४।

राघवपांडवीय—इसका कर्ता कविराज (८०० ईस्वी के करीब) हुआ। इस ग्रंथ में रामायण और महाभारत की घटनाओं का साथ साथ वर्णन किया गया है। प्रत्येक श्लोक के दो अर्थ होते हैं। एक रामायण की कथा बतलाता है, तो दूसरा महाभारत की। इस शैली के और भी काव्य मिलते हैं।

पार्श्वभ्युदय काव्य—यह ग्रंथ जैन आचार्य जिनसेन ने दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ध (नवीं सदी) के समय में लिखा। इसकी विशेषता यह है कि पार्श्वनाथ के चरित के साथ कहीं अंतिम पंक्ति, कहीं पहली और चौथी, कहीं पहली और तीसरी पंक्ति तथा कहीं दूसरी और तीसरी पंक्ति मेघदूत से ली गई है। इस प्रकार अपने बृहत् काव्य में उसने संपूर्ण मेघदूत का समावेश कर लिया है; और अपनी कथा में कोई अंतर पढ़ने नहीं दिया। इस पुस्तक से समस्त मेघदूत के तत्कालीन पाठ का निर्णय हो सकता है।

वैसे तो संस्कृत का प्रायः संपूर्ण पद्य साहित्य गाया जा सकने के कारण गेय काव्य (Lyric poetry) कहा जा सकता है, परंतु जयदेव का बारहवीं शताब्दी में बनाया हुआ 'गीतगोविंद' गेय कविता का उत्कृष्ट ग्रंथ है। कवि ने इसमें कठिन छंदों में अत्यंत उत्तम शब्द-विन्यास की पूर्णता दिखाई है। अपनी अनुपम चतुरता से अनुप्रास और तुकों से उसने कविता को बहुत ही अधिक मधुर और भावोत्तेजक बना दिया है, जो भिन्न भिन्न रागों में गाई जा सकती है। इस काव्य की बड़े बड़े पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और कइयों ने तो इसमें गेय कविता की पराकाष्ठा मान ली है।

इनके अतिरिक्त बहुत से संस्कृत काव्य हमारे निर्दिष्ट समय में लिखे गए, जिनमें से कुछ एक के नाम नीचे दिए जाते हैं। प्रसिद्ध कवि जेमेट्र ने 'रामायण-मंजरी,' 'भारत-मंजरी,' 'दशावतार-

चरित,' 'समय-मातृका,' 'जातकमाला,' 'कविकंठाभरण,' 'चतुर्वर्ग-संग्रह' आदि छोटे बड़े अनेक ग्रंथ लिखे। कुमारदास का 'जानकी-हरण,' हरदत्त-विरचित 'राघवनैपथीय,' मंखकवि-लिखित 'श्रीकंठ-चरित,' हर्ष-कृत 'नैपथ्यचरित,' वस्तुपाल-विनिर्मित 'नरनारायणानंद काव्य,' राजानक जयरथ-प्रणीत 'हरचरित-चिंतामणि,' राजानक रत्नाकर का 'हरविजय महाकाव्य,' दामोदर-विरचित 'कुट्टिनीमत,' वाग्भट-कृत 'नेमि-निर्वाण,' धनंजय श्रेष्ठ का 'द्विसंधान महाकाव्य,' संध्याकरनेदी का 'रामचरित,' विल्हण-प्रणीत 'विक्रमांकदेवचरित,' पद्मगुप्त-प्रणीत 'नवसाहसार्क-चरित,' हेमचंद्र का 'द्वयाश्रय महा-काव्य,' जयानक-रचित 'पृथ्वीराजविजय,' सोमदेव-कृत 'कीर्ति-कौमुदी' और कल्हण-विनिर्मित 'राजतरंगिणी' आदि सैकड़ों काव्य हैं। इनमें से अंतिम सात ऐतिहासिक ग्रंथ हैं।

हमारे समय में सुभाषितों—भिन्न भिन्न विषयों के उत्तम श्लोकों—के कई संग्रह भी हो चुके थे। अमितगति (८८३ ई०) के 'सुभाषित-

सुभाषित संग्रह

रत्नसंदोह' और वल्लभदेव (११वीं शताब्दी*)

की 'सुभाषितावलि' के अतिरिक्त एक बौद्ध

विद्वान् का सुभाषितसंग्रह भी मिला है, जो प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डा० टामस ने 'कर्वीद्रवचनसमुच्चय' नाम से प्रकाशित किया है। इस ग्रंथ की १२ वीं शताब्दी की लिखी हुई एक प्रति मिली है। इस ग्रंथ का तथा ग्रंथ के लेखक का नाम अभी तक अज्ञात है।

साहित्य में कथाओं और आख्यायिकाओं का भी एक विशेष स्थान है। हम देखते हैं कि हमारे निर्दिष्ट काल में इस ओर भी

* कई विद्वान् इस ग्रंथ को १४ वीं शताब्दी का बना हुआ मानते हैं, परंतु यह ठीक नहीं। सर्वानंद ने, जो १०८१ शक संवत् (११५९ ई०) में हुआ था, अमरकोश की 'टीकासर्वस्व' नाम की टीका में सुभाषितावलि के अंग उद्धृत किए हैं।

संस्कृत के विद्वान् कवियों ने उपेक्षा नहीं की। छोटी छोटी कथाओं की पद्धति भारत में बहुत प्राचीन काल से चली आती थी। वैद्यों और जैनों के धर्मग्रंथों के निर्माण-काल तक इस पद्धति का पूर्ण विकास हो चुका था। ६००

ई० से पूर्व बहुत सी कथाएँ बन चुकी थीं, जिनका महाभारत और पुराणों आदि में समावेश है। उस समय तक प्रसिद्ध पंचतंत्र भी बन चुका था। इसके बनने का निश्चित समय हम नहीं बतला सकते, हाँ ५७० ईस्वी में इसका पहलवी भाषा में अनुवाद हो चुका था। यह ग्रंथ इतना प्रसिद्ध हुआ कि इसके अरबी और सीरियन भाषा में भी अनुवाद हो गए। इसके सिवा हमारे समय के बहुत पूर्व गुणाढ्य नामक विद्वान् द्वारा पैशाची में लिखी गई 'बृहत्कथा' भी विद्यमान थी, ऐसा दंडी, सुबंधु और बाण के निर्देशों से पाया जाता है। जेम्स ने 'बृहत्कथामंजरी' के नाम से १०३७ ईस्वी के आसपास इसका संस्कृत में अनुवाद किया था। पंडित सोमदेव ने भी 'कथासरित्सागर' के नाम से इसका अनुवाद (१०६३—१०८१ के बीच में) किया था। 'बृहत्कथा' का तीसरा रूप भी 'बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह' के नाम से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त 'वैताल-पंचविंशति' और 'सिंहासन-द्वाविंशतिका', 'शुक-सप्तति' आदि कथाओं के कई छोटे छोटे संग्रह मिलते हैं, जो हमारे समय में भी प्रसिद्ध थे। इन अनुवादों से भारतीय कथाओं का यूरोप में भी प्रवेश हो गया और वहाँ भी ये कथाएँ प्रचलित हो गईं। यही कारण है कि हम बहुत सी अरबी कथाओं में भारतीय कथाओं से काफी समानता पाते हैं।

छोटी छोटी कथाओं के इन संग्रहों के अतिरिक्त कई एक गद्य उपन्यास या आख्यायिकाएँ भी लिखी गईं। यद्यपि ये ग्रंथ गद्य में हैं तथापि इनकी वर्णन-शैली प्रायः पद्य काव्यों की ही है। अलंकार,

शब्दवैचित्र्य तथा अनुप्रासादि की इसमें भी बहुलता है। समास और श्लेषादि अलंकार बहुत होने के कारण इनकी भाषा कहीं कहीं छिष्ट हो गई है। इनसे तात्कालिक सभ्यता, रहन सहन आदि पर बहुत प्रकाश पड़ता है। दंडी कवि के बनाए हुए 'दशकुमारचरित' से हमें तत्कालीन रीति रिवाज, साधारण सभ्यता, राजा आदि विशिष्ट पुरुषों के व्यवहार संबंधी बहुत सी ज्ञातव्य बातें मालूम होती हैं। सुबंधु-रचित 'वासवदत्ता' भी संस्कृत साहित्य में एक अनोखा ग्रंथ है, परन्तु बहुधा प्रत्येक शब्द पर श्लेषों की भरमार होने के कारण वह विशेष छिष्ट हो गया है। कहीं कहीं तो एक ही वाक्य या वाक्यखंड के ६-७ या उनसे भी अधिक अर्थ होते हैं। कवि ने अपनी विद्वत्ता दिखाने के लिये भले ही उसकी ऐसी रचना की हो, परन्तु साधारण पाठकों के लिये तो वह बहुत नीरस ग्रंथ है और टीका के बिना तो उन्हें जगह जगह पर रुकना पड़ता है। इसके अनंतर हम प्रसिद्ध कवि बाण के 'हर्षचरित' और 'कादंबरी' को देखते हैं। 'हर्षचरित' एक ऐतिहासिक (हर्षचरित संबंधी) गद्य काव्य है। इससे हर्ष-कालीन इतिहास जानने में बहुत सहायता मिली है। इसकी भाषा छिष्ट और समासबहुल है। इसका शब्दभांडार बहुत ही अधिक है। काव्य और भाषा की दृष्टि से 'कादंबरी' सर्वोत्कृष्ट है। इसकी भाषा छिष्ट नहीं और इसमें लालित्य पहले ग्रंथ से अधिक है। इसे पूर्ण करने से पहले ही बाण का देहांत हो गया। उसका उत्तरार्ध बाण के पुत्र पुलिन भट्ट (पुलिंद) ने लिखकर पूरा किया। बाण और उसके पुत्र ने संस्कृत गद्य लिखने में जो भाषा का सौष्ठव प्रदर्शित किया है, वह किसी अन्य लेखक के ग्रंथ में नहीं पाया जाता। इसी से पंडितों में यह कहावत प्रसिद्ध है—“बाणोच्छ्रितं जगत्सर्वम् ।” सोढुल की 'उदयसुंदरी कथा' और धनपाल की 'तिलकमंजरी' भी उत्कृष्ट गद्य काव्य हैं।

संस्कृत साहित्य में चंपू ग्रंथों (गद्य-पद्यात्मक कान्व्यों) का भी विशेष स्थान है। सबसे प्रसिद्ध चंपू 'नल चंपू' है जिसे त्रिविक्रम भट्ट ने

८१५ ई० के आस पास बनाया था। सोम-

चंपू

देव का 'यशस्तिलक' भी उत्कृष्ट चंपू है।

राजा भोज ने 'चंपूरामायण' की रचना की पर उसके केवल पाँच कांड ही लिखे जा सके।

नाटकों का प्रचार भारतवर्ष में बहुत प्राचीन काल से था और पाणिनि से, जो ई० सन् पूर्व की छठी शताब्दी में हुआ, पूर्व ही उनके नियम-ग्रंथ भी बन चुके थे। पाणिनि ने

नाटक

शिलाली और कृशाश्व के नट-सूत्रों का नाम भी

दिया है। पीछे से भरत ने 'नाट्यशास्त्र' भी लिखा। हमारे काल से पूर्व भास, कालिदास अश्वघोषादि प्रसिद्ध नाटकलेखक हो गए थे। हमारे समय में भी बहुत से नाटक बने।

महाराजा शुद्रक का बनाया हुआ 'मृच्छकटिक' भी बहुत उच्च कोटि का नाटक है। इसमें जीवन-शक्ति और कर्मण्यता के भाव बहुत अच्छी तरह दिखाए गए हैं। कन्नौज के प्रसिद्ध राजा हर्षवर्द्धन ने 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' नाम के नाटक लिखे। इनमें पात्रों का चरित्र-चित्रण तथा वस्तु का विन्यास बहुत उत्तमता से किया गया है। उसका तीसरा नाटक 'नागानंद' है, जिसकी प्रोफेसर मैकडानल आदि विद्वानों ने बहुत प्रशंसा की है। नाटक लिखने में महाकवि कालिदास की प्रतिस्पर्धा करनेवाला भवभूति भी इसी निर्दिष्ट काल (आठवीं शताब्दी) में हुआ। भवभूति वरार का रहनेवाला एक ब्राह्मण था। उसके तीन नाटक—'मालतीमाधव', 'महावीर-चरित' और 'उत्तररामचरित'—मिलते हैं। इन तीनों नाटकों में अपनी अपनी विशेषता है। मालतीमाधव में 'शृंगार रस', महावीर-चरित में 'वीर रस' और उत्तररामचरित में 'कृष्ण रस' का उत्कर्ष

है, परंतु करुण रस के प्रदर्शन में भवभूति सबसे बढ़ गया है। उसकी कल्पना शक्ति बहुत प्रशंसनीय है। बड़े बड़े वाक्य होने के कारण उसके नाटक रंगभूमि के लिये वैसे अच्छे नहीं हैं, जैसे कि भास और कालिदास के हैं। हमारे समय का होने पर भी भट्टनारायण का समय निश्चित रूप से मालूम नहीं हो सका। उसका 'वेशी-संहार' एक उत्तम नाटक है। इसमें महाभारत के युद्ध का वर्णन है। वीर रस इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। 'मुद्राराक्षस' का कर्ता विशाखदत्त भी ८०० से पीछे नहीं हुआ। यह नाटक अपने ढंग का एक ही है। यह विलकुल राजनीतिक है। राजशेखर ने भी, जो कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल और महिपाल के पास रहता था, कई नाटक लिखे। यह संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रकांड पंडित था। उसने अपने नाटकों में कई नए छंदों की रचना की है। कहावतों का भी उसने बहुत जगह प्रयोग किया है। उसके बालरामायण और बालभारत नाटकों का विषय तो नाम से ही स्पष्ट है। उसका तीसरा ग्रंथ 'विद्वशाल-भंजिका' एक उत्तम हास्य-रसपूर्ण नाटिका है। कवि दामोदर ने, जो ८५० ई० से पूर्व हुआ था, 'हनुमन्नाटक' या 'महानाटक' लिखा, जिसे नाटक कहने की अपेक्षा काव्य कहना अनुचित न होगा। इसमें प्राकृत का कहीं भी उल्लेख नहीं है। कृष्णमिश्र कवि (११०० ई०) ने 'प्रबोधचंद्रोदय' नामक एक बहुत उत्कृष्ट नाटक लिखा। यह अलंकारात्मक तथा भावात्मक नाटक है। नैतिक और दार्शनिक दृष्टि से यह बहुत ही उत्तम है। इसमें शांति, जमा, काम, लोभ, क्रोध, दंभ, अहंकार, मिथ्यादृष्टि आदि पात्र रक्खे गए हैं। यह नाटक ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपयोगी है।

हमने ऊपर कुछ नाटकों का परिचय दिया है। इनके अतिरिक्त भी बहुत से नाटक हमें मिलते हैं, जिनमें से मुरारि-कृत 'अनर्घराघव',

विल्हण-रचित 'कर्णसुंदरी' (नाटिका), चंदेल राजा परमर्दिदेव के मंत्री वत्सराजकृत छः रूपक—'किरातार्जुनीय' (व्यायोग), 'कर्पूर-चरित' (भाण), 'रुक्मिणीपरिणय' (ईहामृग), 'त्रिपुरदाह' (डिम), 'हास्यचूडामणि' (प्रहसन) और 'समुद्रमंथन' (समवकार); चौहान राजा विप्रहराज का लिखा हुआ 'हरकेलि नाटक', सोमेश्वर-विरचित 'ललितविप्रहराज नाटक', परमार राजा धारावर्ष के भाई प्रह्लादन देव का 'पार्थपराक्रम' (व्यायोग) आदि द्रष्टव्य हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से और भी नाटक लिखे गए, जिनके नाम हम विस्तार-भय से नहीं देते।

साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों की उन्नति हमारे समय तक हो चुकी थी। ध्वनि, अलंकार, रस आदि साहित्य के उपयोगी और आवश्यक अंगों पर भी हमारे समय में कई ग्रंथ लिखे गए थे। श्रीमम्मटाचार्य ने 'काव्यप्रकाश' लिखा, परंतु वह उसे पूर्ण न कर सका, इसलिये उसका शेष भाग अलख (अल्लट) सूरि ने लिखा। इसके सिवा भी कई ग्रंथ लिखे गए, जिनमें से गोवर्धनाचार्य का 'ध्वन्यालोक', भामह का 'अलंकार शास्त्र', 'राजशेखर-कृत 'काव्य-मीमांसा', हेमचंद्र-रचित 'काव्यानुशासन', वाग्भट-लिखित 'काव्यानु-शासन' और 'वाग्भटालंकार', उद्भट-निर्मित 'काव्यालंकार-संग्रह', रुद्रट का 'काव्यालंकार-संग्रह' और भोज-रचित 'सरस्वती-कंठाभरण' मुख्य हैं। छंदःशास्त्र तो वेद का अंग समझा जाता है। इस पर भी अनेक उत्कृष्ट ग्रंथ लिखे गए, जिनमें पिंगलाचार्य का 'पिंगल-छंद-सूत्र' सबसे अधिक प्राचीन है। हमारे समय में भी इस प्रशस्ति से संबंध रखनेवाले कई ग्रंथ लिखे गए, जिनमें से दामोदर मिश्र का 'वाणीभूषण', हेमचंद्र-कृत 'छंदोऽनुशासन', और चंमंद कृत 'सुवृत्त-तिलक' उल्लेख्य हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि हमारे सैकड़ों काव्य, नाटक, उपन्यासादि इस ग्रंथकारमय दीर्घकाल के प्रभाव से मुसलमान शासकों के राजत्वकाल में नष्ट हो गए। जितने उपलब्ध भी हैं, उनमें से हमने कुछ का परिचय मात्र दिया है। संभव है, खोज से कई उत्तम और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथों का और भी पता लगे।

६०० से १२०० ई० तक के संस्कृत साहित्य पर सरसरी नजर डालने से पता लगता है कि वह समय संस्कृत साहित्य की दृष्टि से उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचा हुआ था।

तत्कालीन काव्य साहित्य का सिंहावलोकन काव्य, अलंकार, छंदःशास्त्र, नाटक आदि सभी अंग उन्नति करते हुए नजर आते हैं। इन साहित्य-ग्रंथों में केवल प्रेम की कथाएँ ही नहीं, किंतु वीर, कर्ण आदि अन्य रसों का भी पूरा विकास देख पड़ता है। नीति और शिष्टा की दृष्टि से भी ये ग्रंथ कम महत्व के नहीं हैं। भारवि का 'किरातार्जुनीय' राजनीति शास्त्र की दृष्टि से अपूर्व ग्रंथ है। बाण के 'कादंबरी' और 'हर्षचरित' में दिए गए उपदेश अपना सानी नहीं रखते। काव्य-चमत्कार तो हम प्रायः प्रत्येक काव्य में ढोड़ा बहुत अवश्य पाते हैं।

कविता भारतीय आर्यों की अत्यंत प्रिय वस्तु थी। केवल काव्य से संबंध रखनेवाले ग्रंथ ही कविता में नहीं लिखे गए, परंतु वैशक, ज्योतिष, व्याकरण, अंकगणित, बीजगणित (इनके प्रश्न और उदाहरण तक) आदि अनेक विषयों के ग्रंथ भी छंदों में ही लिखे गए। इतना ही नहीं, हम देखते हैं कि गुप्तवंशी राजाओं के सिक्कों पर भी कविता-बद्ध लेख अंकित हैं। इतने प्राचीन काल में संसार के किसी भी देश में सिक्कों पर कविताबद्ध लेख नहीं लिखे जाते थे।

व्याकरण

प्राचीन काल में व्याकरण को बहुत महत्व दिया जाता था। वेद के छः अंगों में व्याकरण ही प्रथम और प्रधान समझा जाता था। ६०० ई० तक व्याकरण बहुत उन्नत हो चुका था। पाणिनि के व्याकरण पर कात्यायन और पतंजलि अपने वार्त्तिक और महाभाष्य लिख चुके थे। शर्ववर्मा का 'कातंत्र व्याकरण' भी, जो प्रारंभिक विद्यार्थियों के लिये लिखा गया था, बन चुका था। इस पर सात टीकाएँ मिल चुकी हैं। हम देखते हैं कि व्याकरण बहुत समय तक हिंदुओं में मुख्य विषय बना रहा। पंडित होने के लिये व्याकरण का प्रकांड विद्वान् होना आवश्यक समझा जाता था। हमारे इस निर्दिष्ट काल में भी व्याकरण विषयक कई उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखे गए। सबसे प्रथम पंडित जयादित्य और वामन ने ६६२ ई० के आसपास 'काशिकावृत्ति' नाम से पाणिनि के सूत्रों पर भाष्य लिखा, जो बहुत उत्तम तथा उपयोगी ग्रंथ है। भर्तृहरि ने भाषाशास्त्र की दृष्टि से व्याकरण पर 'वाक्यप्रदीप' नाम का बृहद् ग्रंथ तथा 'महाभाष्य-दीपिका' और 'महाभाष्य-त्रिपदी' व्याख्यान लिखे। उस समय तक उणादि सूत्र भी बन चुके थे, जिनकी टीका १२५० ई० में उज्ज्वलदत्त ने की। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर लिखे गए ग्रंथों के अतिरिक्त भी कई स्वतंत्र व्याकरण बने। चंद्रगोमिन ने ६०० ई० के करीब 'चांद्रव्याकरण' लिखा। उसने इसमें पाणिनि के सूत्रों और महाभाष्य का भी कुछ उपयोग किया है। इसी तरह जैन शाकटायन ने नवीं शताब्दी में एक व्याकरण लिखा। प्रसिद्ध जैन-आचार्य हेमचंद्र ने अपनी तथा अपने समय के राजा सिद्धराज की स्मृति स्थिर रखने के लिये शाकटायन के व्याकरण से भी अधिक विस्तृत 'सिद्ध-हेम' नामक व्याकरण लिखा। जैन होने के कारण उसने वैदिक-भाषा संबंधी नियमों का वर्णन नहीं किया। इनके सिवा व्याकरण

से संबंध रखनेवाले कुछ और भी छोटे छोटे ग्रंथ लिखे गए, जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—वर्धमान-प्रणीत 'गणरत्न-महोदधि', भास्वरवृद्ध-कृत 'गणकारिका', वामन-विरचित 'लिंगानुशासन', हेमचंद्र-लिखित 'उणादि-सूत्रवृत्ति', 'धातुपाठ', 'धातुपारायण', 'धातुमाला', 'शब्दानुशासन' आदि ।

कोष

हम ऊपर लिख चुके हैं कि संस्कृत साहित्य के विकास की दिशा भाषा-परिवर्तन की ओर नहीं थी। उसकी दिशा शब्द-भाँडार बढ़ाने, भाषा में लालित्य तथा अलंकार लाने की तरफ़ थी। इस काल में संस्कृत साहित्य का शब्द-भाँडार बहुत बढ़ता गया। उसके बढ़ने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि संस्कृत के कोष भी बने; कुछ कोष ऐसे हैं, जिनमें एक नाम के तमाम पर्यायवाची शब्द इकट्ठे दिए गए हैं और कुछ ऐसे हैं, जिनमें एक शब्द के सब अर्थ इकट्ठे दिए हैं। कई कोषों में शब्दों के लिंग भी बताए गए हैं। अमर-सिंह का बनाया हुआ छंदोषद्ध 'अमरकोष' बहुत प्रसिद्ध है, जो हमारे समय के प्रारंभ के आसपास का बना हुआ है। यह कोष इतना लोकप्रिय हुआ कि इस पर करीब ५० टीकाएँ लिखी गईं। उनमें से अब कुछ का ही पता लगता है, जिनमें से भट्ट चौरस्वामी की, जो संभवतः १०५० ई० के करीब हुआ, टीका विशेष प्रसिद्ध है। पुरुषोत्तम देव ने 'त्रिकांढशेष' के नाम से अमर-कोष का एक परिशिष्ट लिखा। यह बहुत ही उपयोगी कोष है, क्योंकि इसमें बौद्ध संस्कृत तथा अन्य प्राकृत भाषाओं के भी शब्द हैं। इसके लेखक ने 'हारावली' नामक भी एक कोष लिखा, जिसमें बहुत से ऐसे कठिन शब्दों का समावेश किया गया जिनका

उससे पहले के ग्रंथों में उल्लेख नहीं मिलता । इसका भी समय ७०० से पीछे नहीं माना जा सकता । शाश्वत का लिखा 'अनेकार्थ-समुच्चय' भी बहुत उपयोगी कोष है । हलायुध ने ८५० ई० के करीब 'अभिधान-रत्नमाला' लिखी । इसमें कुल ८०० श्लोक हैं । दक्षिणी विद्वान् यादवभट्ट का 'वैजयंती कोष' भी बहुत अच्छा है । इसमें शब्द, अक्षरों की संख्या और लिंग के साथ साथ अकारादि क्रम के अनुसार लिखे गए हैं । इनके अतिरिक्त धनंजय-कृत 'नाम-माला', महेश्वर-विनिर्मित 'विश्वप्रकाश' और मंखकवि-रचित 'अनेकार्थ कोष' आदि कोष लिखे गए । हेमचंद्र का 'अभिधान-चिंतामणि कोष' भी बड़े महत्त्व का है, जो उसी के कथनानुसार उसके व्याकरण का परिशिष्ट है । फिर उसने इस कोष के परिशिष्ट के रूप में वनस्पति शास्त्र संबंधी शब्दों का ३८६ श्लोकों में 'निघंटु कोष' लिखा । उसने अनेकार्थ संग्रह भी लिखा । १२०० के करीब केशवस्वामी ने 'नानार्थ-संकल्प' नामक एक कोष लिखा ।

दर्शन

✓ हमारा निर्दिष्ट काल दार्शनिक दृष्टि से उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ था । इस समय से पूर्व भारत में दर्शन के छः प्रसिद्ध संप्रदायों—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदांत)—का पूर्ण विकास हो चुका था । पाणिनि ने न्याय से नैयायिक शब्द बनने का निर्देश किया है । सभी संप्रदाय उन्नति के शिखर पर थे । इनके अतिरिक्त बौद्ध और जैन दर्शन भी बहुत बड़े चढ़े थे । राष्ट्र की समृद्धि, राज्य में सुख और शांति तथा जनता को पेट भरने की चिंता न रहने आदि का यह तो स्वाभाविक परिणाम है कि देश में दार्शनिक उन्नति हो ।

६०० ई० से पूर्व तक छहों संप्रदायों के मुख्य मुख्य सूत्र ग्रंथों का निर्माण हो चुका था और उन पर प्रामाणिक तथा उपयोगी भाष्य भी लिखे जा चुके थे ।

न्यायदर्शन वह शास्त्र है, जिसमें किसी वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिये विचारों की उचित योजना का निरूपण रहता है । न्यायदर्शन

के अनुसार सोलह पदार्थों—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान—के सम्यक् ज्ञान के द्वारा अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है । प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द । आप्त (साक्षात्कृत-धर्मा) का शब्द ही प्रमाण है । अदृष्टार्थ में केवल वेद ही प्रमाण है । वेद ईश्वरकृत हैं, इससे उनके वाक्य सदा सत्य और विश्वसनीय हैं । प्रमेय (जानने योग्य पदार्थ) बारह हैं—

(१) आत्मा—सब वस्तुओं का देखनेवाला, भोग करनेवाला, जाननेवाला और अनुभव करनेवाला ।

(२) शरीर—भोगों का आयतन ।

(३) इंद्रियाँ—भोगों के साधन ।

(४) अर्थ—भोग्य पदार्थ ।

(५) बुद्धि ।

(६) मन ।

(७) प्रवृत्ति—मन, वचन और शरीर का व्यापार ।

(८) दोष—जिसके कारण सांसारिक कार्यों में प्रवृत्ति होती है ।

(९) पुनर्जन्म ।

(१०) फल—सुख या दुःख का अनुभव ।

(११) दुःख ।

(१२) अपवर्ग या मोक्ष ।

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, और ज्ञान आत्मा के लिंग (अनुमान के साधन-चिह्न या हेतु) हैं । आत्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है । संसार को बनानेवाला आत्मा ही ईश्वर (परम आत्मा) है । ईश्वर में भी आत्मा के समान संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग आदि गुण हैं, परंतु नित्य रूप से । पूर्वजन्म में किए हुए कर्मों के अनुसार शरीर उत्पन्न होता है । पंचभूतों से इंद्रियों की उत्पत्ति होती है और परमाणुओं के योग से सृष्टि ।

ऊपर लिखे हुए इस सिद्धांत-परिचय से ज्ञात होता है कि हमारा न्यायशास्त्र केवल तर्कशास्त्र नहीं है, किंतु प्रमेयों का विचार करनेवाला दर्शनशास्त्र है । पाश्चात्य तर्कशास्त्र (Logic) से इसका यही भेद है ।

आचार्य गौतम के न्याय-सूत्रों के प्रसिद्ध भाष्यकार वात्स्यायन के न्याय-सूत्र-भाष्य की टीका उद्योतकर ने सातवीं सदी के प्रारंभ में लिखी । यह टीका नैयायिक संप्रदाय में बहुत अधिक प्रामाणिक मानी जाती है । वासवदत्ताकार सुबंधु ने मल्लनाग, न्यायस्थिति, धर्मकीर्ति और उद्योतकर इन चार नैयायिकों का उल्लेख किया है । संभवतः ये सब सातवीं सदी के प्रारंभ के आस पास हुए होंगे । उद्योतकर की टीका वाचस्पति मिश्र ने की, जिसकी भी टीका उदयनाचार्य ने तात्पर्य-परिशुद्धि नाम से लिखी । ८८४ ई० के आसपास अन्य उदयन ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'कुसुमांजलि' लिखा । इसमें उसने न्याय के दृष्टिकोण से ईश्वर की सत्ता सिद्ध की है । आस्तिकवाद के लिखे हुए संसार के उत्तम ग्रंथों में यह भी एक माना जाता है । उदयन की तर्कशैली और प्रतिपादनविधि अत्यंत विद्वत्तापूर्ण और आश्चर्यजनक है । इसमें उसने मीमांसकों के नास्तिकवाद के सिद्धांत तथा वेदातियों, सांख्यों और बौद्धों के सत्कार्यवाद (कारण में कार्य का पूर्व से विद्यमान रहना) का, जिसको परिणामवाद भी कहते

हैं, बहुत अच्छी तरह खंडन किया है। उसने बौद्धदर्शन के विरोध में भी एक पुस्तक (बौद्धधिकार) लिखी। ये सब ग्रंथ प्राचीन न्याय से संबंध रखते हैं।

६०० ई० के करीब से नैयायिक संप्रदाय में जैन और बौद्ध दार्शनिकों ने भी पर्याप्त उन्नति शुरू कर दी थी। इनकी न्याय-शैली प्राचीन शैली से भिन्न थी। इसका विकास आठवीं सदी के आस-पास हुआ। यह 'मध्यकालीन न्याय' कहा जाता है। बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग ने इसे प्रचलित किया। नालंद में रहनेवाले धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति ने सातवीं सदी में 'न्यायबिंदु' नामक ग्रंथ लिखा, जिस पर धर्मोत्तर ने ८०० ई० के आसपास एक टीका लिखी। जैन विद्वान् हेमचंद्र ने सूत्र-शैली पर 'प्रमाणमीमांसा' लिखी। इस मध्यकालीन संप्रदाय की अधिक पुस्तकें नहीं मिलतीं, परंतु तिब्बत में बौद्धों के न्याय संबंधी कई संस्कृत ग्रंथों के तिब्बती अनुवाद मिलते हैं, जिनके मूल ग्रंथ अब उपलब्ध नहीं हैं।

नवीन न्याय संप्रदाय का अभ्युदय १२०० ई० के आसपास शुरू होता है। बंगाल के नवद्वीप में गंगेश ने 'तत्त्वचिंतामणि' लिखकर इस संप्रदाय को प्रचलित किया। नवीन न्याय में भाषा की क्लृप्ता और बाह्य शब्द-जाल की अधिक प्रधानता है। पीछे से नदिया में इस संप्रदाय का बहुत प्रचार हुआ, परंतु न उसमें तत्त्व-निर्णय रहा, न तत्त्व-निर्णय का सामर्थ्य, किंतु शब्दाढंबर बहुत बढ़ गया। अब तक बंगाल में यह प्रचलित है।

वैशेषिक उस दर्शन का नाम है, जिसमें पदार्थों का विचार तथा द्रव्यों का निरूपण हो। महर्षि कणाद का 'वैशेषिक दर्शन,'

न्याय दर्शन से बहुत कुछ समानता रखता है।

वैशेषिक दर्शन सिद्धांत पक्ष में न्याय कहने से दोनों का बोध होता है; क्योंकि गौतम के न्याय में प्रमाण-पक्ष प्रधान है और इसमें

प्रमेय-पक्ष । ईश्वर, जगत्, जीव आदि के संबंध में दोनों के सिद्धांत एक हैं । न्याय में मुख्यतः तर्कपद्धति और प्रमाण-विषय का निरूपण किया गया है, परंतु वैशेषिक में उससे आगे बढ़कर द्रव्यों की परीक्षा की गई है । नौ द्रव्यों—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा (और परमात्मा) और मन—की विशेषताएँ बताने के कारण इसका नाम वैशेषिक पड़ा । इनमें से प्रथम चार परमाणु अवस्था में नित्य और स्थूलावस्था में अनित्य हैं । दूसरे चार नित्य और सर्वव्यापक हैं । मन नित्य है, परंतु व्यापक नहीं । वैशेषिक के अनुसार पदार्थ केवल छः—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ही हैं । पीछे से अभाव भी सातवाँ पदार्थ माना गया । रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, संख्या, पृथक्त्व, बुद्धि, सुख दुःख आदि चौबीस गुण हैं । उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि पाँच प्रकार की गतियाँ कर्म हैं ।

वैशेषिक का परमाणुवाद प्रसिद्ध है । परमाणु नित्य और अचर (अविनाशी) हैं । इन्हीं की योजना से पदार्थ बनते हैं और सृष्टि होती है । जब जीवों के कर्मफल के भोग का समय आता है, तब ईश्वर की उस भोग के अनुकूल सृष्टि करने की इच्छा होती है । इसी इच्छा या प्रेरणा से परमाणुओं में गति या चोभ उत्पन्न होता है और वे परस्पर मिलकर सृष्टि की योजना करने लगते हैं ।

इसका जैन दर्शन से भी बहुत कुछ साम्य है । इस पर कोई प्राचीन भाष्य नहीं मिलता ! प्रशस्तपाद का 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' बहुत संभवतः ७०० ई० के करीब बना था । यह वैशेषिकसंप्रदाय का प्रामाणिक ग्रंथ है । श्रीधर ने ८८१ ई० में 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' की बहुत उत्तम व्याख्या की । ज्यों ज्यों समय गुजरता गया, न्याय और वैशेषिक संप्रदाय भी परस्पर अधिक समीप आते गए ।

सांख्य में सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम पर विशेष व्याख्या की गई है । सांख्य के अनुसार प्रकृति ही जगत् का मूल है और

सत्त्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों के योग से सृष्टि तथा उसके सब पदार्थों का विकास हुआ है। आत्मा ही पुरुष है। वह अकर्ता, साक्षी और प्रकृति से भिन्न है। आत्मा या पुरुष अनुभवात्मक है। सांख्य के अनुसार परमात्मा (ईश्वर) कोई नहीं है। इस संप्रदायवाले २५ तत्त्व मानते हैं—पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व (बुद्धि), अहंकार, ग्यारह इंद्रियाँ, (पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन), पाँच गुण और पाँच महाभूत। सृष्टि को प्रकृति का परिणाम मानने के कारण इसे परिणामवाद भी कहते हैं।

सांख्य दर्शन भी अन्य दर्शनों की तरह बहुत प्राचीन है। बुद्ध के समय इसका बहुत अधिक प्रचार था। सांख्य दर्शन के प्रकृतिवादी होने के कारण ही बुद्ध ने भी ईश्वर की सत्ता की उपेक्षा की। वाचस्पति मिश्र ने ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका पर 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' नामक एक प्रामाणिक टीका लिखी। इस संप्रदाय के अधिक ग्रंथ नहीं मिलते, जो मिलते भी हैं वे हमारे निर्दिष्ट काल के नहीं। यह निश्चित है कि इस संप्रदाय का प्रचार ग्यारहवीं सदी में भी बहुत था। अरब के विद्वान् अलबेरुनी ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में सांख्य के विषय में बहुत कुछ लिखा है। उस समय तक भी ईश्वरकृष्ण की बनाई हुई 'सांख्यकारिका' का प्रचार बहुत था, जैसा कि अलबेरुनी के इससे दिए हुए कई उद्धरणों से पता चलता है। उपनिषदों में मिलनेवाला सांख्य सेधर जान पड़ता है, परंतु ईश्वरकृष्ण और उसके बाद के लेखकों ने उसे निरीश्वर माना है।

योग वह दर्शन है, जिसमें चित्त को एकाग्र करके ईश्वर में लीन करने का विधान है। योग दर्शन में आत्मा और जगत् के संबंध में सांख्य दर्शन के सिद्धांतों का ही प्रतिपादन किया गया है, परंतु पञ्चोस तत्त्वों की जगह

योग में छद्मीस तत्त्व माने गए हैं। छद्मीसवाँ तत्त्व क्लेश, कर्मविपाक आदि से पृथक्, ईश्वर है। इसमें योग के उद्देश, अंग तथा ईश्वर की प्राप्ति के साधनों पर पूरा विचार किया गया है। योग संप्रदाय के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये पाँच प्रकार के क्लेश मनुष्य को होते हैं; और कर्मों के फलानुसार उसे दूसरा जन्म लेना पड़ता है। इनसे बचने और मोक्ष प्राप्त करने का उपाय योग है। क्रमशः योग के अंगों का साधन करते हुए मनुष्य सिद्ध हो जाता है और अंत में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। ईश्वर नित्य, सुक्त, एक, अद्वितीय और त्रिकालातीत है। संसार दुःखमय और हेय है। योग के आठ अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं। योगसिद्धि के लिये इन आठों अंगों का साधन आवश्यक और अनिवार्य है। सृष्टि तत्त्व आदि के संबंध में योग का भी प्रायः वही मत है, जो सांख्य का है। इससे सांख्य को ज्ञानयोग और योग को कर्मयोग कहते हैं।

इस दर्शन का भारतीय जीवन पर पर्याप्त असर पड़ा। बहुतों ने योग की शिक्षा प्राप्त की। योग सूत्रों के 'व्यासभाष्य' की वाचस्पति मिश्र ने एक प्रामाणिक टीका लिखी। विज्ञानभिक्षु का 'योगसार-संग्रह' भी एक प्रामाणिक ग्रंथ है। राजा भोज ने योग सूत्रों पर एक स्वतंत्र वृत्ति लिखी। पीछे से योग शास्त्र में तंत्र का बहुत भेल मिलाकर कायट्यूह का विस्तार किया गया और शरीर के अंदर कई चक्र कल्पित किए गए। हठयोग, राजयोग, लययोग आदि विषयों पर भी पीछे से कुछ ग्रंथ लिखे गए।

कुछ विद्वानों का मत है कि पहले मीमांसा का नाम न्याय था।

वैदिक वाक्यों के परस्पर समन्वय और समाधान के लिये जैमिनि ने पूर्व मीमांसा में जिन युक्तियों और तर्कों का व्यवहार किया, वे पहले न्याय के नाम से

प्रसिद्ध थे। आपस्तम्ब धर्म सूत्र के न्याय शब्द से पूर्व मीमांसा ही अभिप्रेत है। मध्वाचार्य ने पूर्व मीमांसा विषय का 'सार-संग्रह' ग्रंथ लिखा, जो 'न्यायमालाविस्तार' नाम से प्रसिद्ध है। इसी तरह वाचस्पति ने 'न्यायकणिका' नाम से मीमांसा विषयक ग्रंथ लिखा।

मीमांसा शास्त्र कर्मकांड का प्रतिपादक है और वेद के क्रियात्मक भाग की व्याख्या करता है। इसमें यज्ञकांड संबंधी मंत्रों में विनियोग, विधि आदि का भले प्रकार प्रतिपादन किया गया है। इसमें यज्ञ, बलिदान और संस्कारों पर विशेष जोर दिया गया है। अतः मीमांसक पौरुषेय और अपौरुषेय सभी वाक्यों को कार्य विषयक मानते हैं। मीमांसा में आत्मा, ब्रह्म, जगत् आदि का विवेचन नहीं है। यह केवल वेद या उसके शब्द की नित्यता का प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार वेदमंत्र ही देवता हैं। मीमांसकों का कथन है कि सब कार्य फल के उद्देश्य से ही होते हैं। फल की प्राप्ति कर्म के द्वारा ही होती है। अतः कर्म और उसके प्रतिपादक वचनों के अतिरिक्त ऊपर से किसी ईश्वर को मानने की आवश्यकता ही नहीं। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं और नैयायिक अनित्य। सांख्य और पूर्व मीमांसा दोनों अनीश्वरवादी हैं; वेद की प्रामाणिकता भी दोनों मानते हैं, भेद यही है कि सांख्य वेद का प्रत्येक कल्प में नवीन प्रकाशन मानता है और मीमांसक उसे नित्य कहते हैं।

जैमिनि के सूत्रों पर सबसे प्राचीन भाष्य शबर स्वामी का उपलब्ध होता है, जो संभवतः पाँचवीं सदी में लिखा गया है। कुछ समय पीछे मीमांसकों के दो भेद हो गए। उनमें एक का प्रवर्तक कुमारिल भट्ट सातवीं सदी में हुआ, जिसका उल्लेख धर्म के प्रकरण में किया जा चुका है। उसने मीमांसा पर 'कातंत्रवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' लिखे, जिनमें उसने वेद की प्रामाणिकता स्वीकार न करनेवाले बौद्धों का बहुत खंडन किया। मध्वाचार्य ने इस विषय

पर 'जैमिनीय-न्यायमाला-विस्तार' नाम से एक प्रामाणिक ग्रंथ लिखा। इस शास्त्र का नाम पूर्व मीमांसा इसलिये रखा गया है कि कर्मकांड और ज्ञानकांड में से पूर्व (कर्मकांड) का इसमें विवेचन है, इसलिये नहीं कि यह उत्तर मीमांसा (वेदांत) से पहले बना।

उत्तर मीमांसा या वेदांत दर्शन का हमारे इस निर्दिष्ट समय में सबसे अधिक विकास हुआ। व्यास के वेदांत-सूत्र अन्य दर्शन-सूत्र-

ग्रंथों की तरह बहुत पहले बन चुके थे। इसका
उत्तर मीमांसा
सब से प्राचीन भागुरी-कृत भाष्य आज उपलब्ध

नहीं है। दूसरा भाष्य शंकराचार्य का मिलता है।

शंकराचार्य ने इस युग में धार्मिक और दार्शनिक क्रांति पैदा कर दी। धार्मिक क्रांति का संचित वर्णन हम अन्यत्र कर चुके हैं।

उन्होंने वेदांत में अद्वैतवाद (आत्मा और पर-
शंकराचार्य और
उनका अद्वैतवाद
मात्मा में भेद न मानना) और मायावाद के सिद्धांत का इतनी प्रबलता और विद्वत्ता से प्रतिपादन किया कि प्रायः सभी विद्वान् दंग रह गए। वेदांतसूत्रों में इस मायावाद का विकास नहीं देख पड़ता। पहले पहल शंकराचार्य के गुरु (गोविदाचार्य) के गुरु गौड़पाद की कारिकाओं में माया का कुछ वर्णन मिलता है, जिसे शंकराचार्य ने बहुत विकसित कर दार्शनिक जगत् में बहुत ऊँचा स्थान दे दिया। एक तरह से वे ही अद्वैतवाद के प्रवर्तक आचार्य थे। उन्होंने अपनी विद्वत्ता के बल पर प्रस्थानत्रयी—वेदांतसूत्र, उपनिषदों और गीता—का अद्वैतप्रतिपादक भाष्य लिखकर दार्शनिक-मंडली में इस सिद्धांत का बहुत प्रचार किया। शंकराचार्य की अकाट्य तर्कशैली, ललित भाषा में प्रतिपादन-पद्धति और प्रगाढ़ विद्वत्ता ने बहुत से विद्वानों को अद्वैतवादी बना दिया। अद्वैतवाद के प्रचार के लिये उन्होंने केवल पुस्तकों के भाष्य ही नहीं किए, किंतु संपूर्ण भारत में घूम घूमकर सभी

दार्शनिक संप्रदायों के बहुत से विद्वानों से शास्त्रार्थ कर उन्हें पराजित किया। इससे उनकी विद्वत्ता का सिका जम गया। शंकराचार्य-प्रतिपादित वेदांत ही आजकल का वेदांत है।

इसके सिद्धांतों का संचिप्त विवेचन करना आवश्यक है। न्याय और वैशेषिक ने ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को मानकर ईश्वर को जगत् का कर्ता ठहराया है। सांख्य ने दो ही नित्य तत्त्व स्थिर किए—पुरुष और प्रकृति। वेदांत ने और भी आगे बढ़कर अद्वैतवाद—विशुद्ध ब्रह्म—की स्थापना की। ब्रह्म ही जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों है। जगत् में जो विविध दृश्य दीखते हैं वे सब परिणामी और अनित्य हैं। ब्रह्म चित्स्वरूप या आत्मस्वरूप है। सब ज्ञेय पदार्थ भी ब्रह्म के ही सगुण, सोपाधि या मायात्मक रूप हैं। जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं। जगत् और सृष्टि के संबंध में वेदांतियों की कल्पना है कि जगत् ब्रह्म का विवर्त (कल्पित) रूप है। रस्सी में सर्प की कल्पना की तरह नित्य और शुद्ध ब्रह्म में भ्रमात्मक और नामरूपात्मक जगत् की कल्पना की जाती है। यह जगत् न तो ब्रह्म का वास्तविक रूप है और न उसका कार्य या परिणाम ही। माया के कारण ही ब्रह्म भिन्न भिन्न रूपों में दीखता है। ब्रह्म के साथ माया का संयोग होने से ही जीव बनता है। ज्ञान से माया नष्ट हो सकती है और विशुद्ध ब्रह्म रह जाता है। यह माया अनिर्वचनीय है।

इस अद्वैतवाद या मायावाद पर बौद्ध मत का पर्याप्त प्रभाव था, इसी से बहुत से दार्शनिक शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहते हैं। यद्यपि 'बौद्ध धर्म' के हास के साथ बौद्ध दर्शन भी लुप्त हो गया था, तथापि उसका संसार को मिथ्या मानने का विचार शंकराचार्य ने उसी तरह जारी रखा। ब्रह्म और वेद की नित्यता आदि मानने तथा बौद्धों के जगत् के मिथ्यावाद के मानने से हिंदुओं और बौद्धों

के लिये यह वाद बहुत आकर्षक सिद्ध हुआ। यही कारण है कि यह संप्रदाय इतना जल्दी फैला। शंकराचार्य के भाष्यों पर उनके शिष्यों ने भी कई विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखीं, जिनका वर्तमान वेदांत संप्रदाय में बहुत महत्त्व है। इस दार्शनिक संप्रदाय की वृद्धि का यह भी कारण हुआ कि उन्होंने इसे धार्मिक संप्रदाय का रूप देकर भारत के चारों कोनों में मठ स्थापित कर दिए, जिनका वर्णन अन्यत्र किया गया है। इन मठों के द्वारा अद्वैतवाद का प्रचार बहुत हुआ। शंकराचार्य के पीछे आनेवाले वेदांतियों ने वेदांत का साहित्य बहुत उन्नत किया।

शंकराचार्य का यह अद्वैतवाद बहुत समय तक वेदांत संप्रदाय के नाम से चलता रहा। इसमें किसी ने बाधा उपस्थित न की,

परंतु १२ वीं सदी में रामानुज ने वेदांत संप्र-
 रामानुज और
 उनका विशिष्टाद्वैत
 दाय में एक नवीन भेद प्रचलित किया। यह
 शंकराचार्य के अद्वैतवाद से भिन्न था। इसे
 हम विशिष्टाद्वैतवाद कह सकते हैं। इसके अनुसार जीवात्मा और
 जगत् ब्रह्म से भिन्न होने पर भी वास्तव में भिन्न नहीं है। इस
 सिद्धांत में यद्यपि ब्रह्म, जीवात्मा और जगत् तीनों मूलतः एक ही माने
 जाते हैं तो भी तीनों कार्य रूप में एक दूसरे से भिन्न और कुछ
 विशिष्ट गुणों से युक्त हो जाते हैं। जीव और ब्रह्म का वही संबंध
 है, जो किरण और सूर्य का है। किरण जिस प्रकार सूर्य से निक-
 लती है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से निकला हुआ है। ब्रह्म एक
 भी है और अनेक भी। ब्रह्म केवल निमित्त कारण है। जीव उपा-
 दान है। इसके बाह्य जगत् संबंधी विचार सांख्य दर्शन के आधार
 पर अवलंबित हैं। वास्तव में द्वैत और अद्वैत दोनों के मध्य का यह
 मार्ग है। इसे 'भेदाभेदवाद' या 'द्वैताद्वैतवाद' भी कहते हैं।

रामानुज ने वेदांतसूत्रों, गीता और उपनिषदों का द्वैतवादसूचक
 'श्रीभाष्य' लिखा। उन्होंने भी शंकराचार्य की तरह दक्षिण में एक

संप्रदाय (आस्तिक वैष्णव) का प्रचलन किया, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यद्यपि उनका संप्रदाय शंकराचार्य के संप्रदाय के समान नहीं बढ़ा तो भी उसका अच्छा प्रचार हुआ।

रामानुज के समय में ही मध्वाचार्य ने भी द्वैतवाद का प्रचार कर माध्व संप्रदाय जारी किया। उन्होंने सात प्राचीन उपनिषदों, वेदांत-

सूत्रों, भगवद्गीता और भागवतपुराण के द्वैत-
मध्वाचार्य और
उनका द्वैतवाद
प्रतिपादक भाष्य तथा कतिपय स्वतंत्र पुस्तकों लिखीं। उपर्युक्त सब ग्रंथों का उन्होंने द्वैत-

प्रतिपादक भाष्य लिखकर सांख्य और वेदांत को सम्मिलित कर दिया। अपने द्वैत के सब सिद्धांतों का संग्रह उन्होंने 'तत्त्वसंख्यान' नामक ग्रंथ में किया है। उन्होंने ईश्वर, जीव और प्रकृति को पृथक् पृथक् माना है। वेदांत संप्रदाय में शंकराचार्य के वे पूरे विरोधी रहे। इस संप्रदाय ने भी दार्शनिक संप्रदाय की अपेक्षा धार्मिक संप्रदाय का रूप ही अधिक पकड़ा।

इस तरह हमारे इस निर्दिष्ट काल में वेदांत संप्रदाय का बहुत अधिक विकास हुआ। भिन्न भिन्न आचार्यों ने वेदांत सूत्रों का अपनी अपनी शैली से भाष्य कर कई संप्रदाय चलाए। यद्यपि ये संप्रदाय आज भी विद्यमान हैं तो भी शंकराचार्य के अद्वैतवाद का सबसे अधिक प्रचार है और उसका एक परिणाम यह हुआ कि सभी प्राचीन ग्रंथ एक नए दृष्टि-कोण (अद्वैतसूचक) से देखे जाने लगे। माया-वाद के इस सिद्धांत ने साधारण हिंदुओं के, जो पहले ही बौद्ध धर्म के कारण जगत् को मिथ्या माने हुए थे, दिलों में घर कर लिया, जिसका प्रभाव आज तक हिंदुओं के दिलों से नहीं गया।

इन छहों दार्शनिक संप्रदायों के अतिरिक्त उस समय कई और संप्रदाय भी विद्यमान थे। चारवाक संप्रदाय भी बहुत प्राचीन है। इसके सूत्रों का कर्त्ता बृहस्पति प्राचीन काल में हो चुका था। बौद्धों

ने इस नास्तिक और प्रत्यक्ष-प्रधान संप्रदाय को नष्ट करने का बहुत प्रयत्न किया। नहीं कहा जा सकता कि यह संप्रदाय कब तक सुसं-

गठित रूप में विद्यमान रहा। इतना निश्चित

चारवाक

है कि शंकराचार्य के समय में भी यह मत ऐसे

हीन स्थिति को प्राप्त नहीं हुआ था कि उसकी उपेक्षा की जा सके।

बौद्ध धर्म के हास का प्रारंभ हो चुका था, परंतु उसका दर्शन बहुत समय तक स्थिर रहा। बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के साथ ही

बौद्ध दर्शन

उसका दर्शन नहीं बना। बहुत पीछे बौद्ध

विद्वानों ने अपने सिद्धांतों को दार्शनिक रूप देने का प्रयत्न किया। बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का संक्षिप्त विवेचन हम पहले कर चुके हैं।

जैन संप्रदाय के विद्वानों ने भी अपने सिद्धांतों को दार्शनिक रूप देने में कम यत्न नहीं किया। कुछ समय में ही जैन दर्शन भी

जैन दर्शन

पर्याप्त उन्नत और विकसित हो गया। इसके

सिद्धांतों का भी हम पहले विवेचन कर चुके हैं। फिर भी यहाँ उनके मुख्य दार्शनिक सिद्धांत 'स्याद्वाद' का उल्लेख करना आवश्यक है।

मनुष्य का ज्ञान अनिश्चित है। वह किसी वस्तु के स्वरूप को निश्चित रूप में नहीं जान सकता। अपनी इंद्रियों तथा अंतःकरण की दूरबीन के अनुसार ही वह हर एक वस्तु का स्वरूप निर्माण करता है। इंद्रियाँ ज्ञान का पर्याप्त साधन नहीं हैं, एवं यह आवश्यक नहीं कि उसका निर्णय रूप सत्य हो, यद्यपि वह उसे सत्य समझ रहा हो। इसी सिद्धांत के आधार पर जैनियों के 'स्याद्वाद' का प्रारंभ हुआ है। वे हर एक ज्ञान को सात कोटियों में विभक्त करते हैं। वे ये हैं—(१) स्यादस्ति (संभवतः हो), (२) स्यान्नास्ति (संभवतः न हो), (३) स्यादस्ति च नास्ति च (संभवतः किसी रूप

में हो, किसी रूप में न हो), (४) स्यादवक्तव्य (संभवतः शब्दों से उसका वर्णन न किया जा सकता हो), (५) स्यादस्ति चावक्तव्य (संभवतः हो और शब्दों से उसका वर्णन न किया जा सकता हो), (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्य (संभवतः न हो और उसका वर्णन न किया जा सकता हो), (७) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्य (संभवतः किसी रूप में हो, किसी रूप में न हो पर अवर्णनीय हो) । हर एक कोटि संभावना या संशयावस्था में ही हमारे ज्ञान की बोधक है ।

यदि हम भारतवर्ष के इन छः सौ वर्षों के दार्शनिक इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि सभी संप्रदाय विकास पर हैं ।

तत्कालीन दार्शनिक यदि अद्वैतवाद अपने शिखर पर है, तो द्वैत-वाद भी कम उन्नति नहीं कर रहा है । एक उन्नति का सिंहावलोकन और यदि मोक्ष, ईश्वर आदि आध्यात्मिक बातों की चर्चा जोरों पर थी तो दूसरी ओर चारवाकों का यह कथन—

यावज्जीवं सुखं जीयेत् ऋणं कृत्या घृतं पिबेत् ।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

चल रहा था । इधर वेदांत, न्याय, योग आदि संप्रदाय ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर रहे थे, तो उधर सांख्य संप्रदाय निरीश्वर-वाद के प्रचार में लगा हुआ था । पूर्व मीमांसक यदि कर्मकांड का प्रतिपादन कर रहे थे, तो वेदांती ज्ञान द्वारा ही मोक्ष-प्राप्ति सिद्ध कर रहे थे ।

भारत की इस दार्शनिक उन्नति का युरोपीय दर्शन शास्त्र पर क्या प्रभाव पड़ा, यह एक बड़ा विस्तृत विषय है और हमारे विषय से यह कुछ बाहर भी है । हमें तो केवल युरोपीय दर्शन पर ६०० से १२०० ई० तक के काल पर विचार भारतीय दर्शन का प्रभाव करना है और हमारे दर्शनशास्त्र का जो प्रभाव युरोपीय दर्शन पर पड़ा है, वह इस काल से विशेष संबंध नहीं

रखता। फिर भी इसके अत्यंत आवश्यक होने से यहाँ इसका निर्देश मात्र कर देना अनुचित न होगा।

प्राच्य दर्शन शास्त्र का ग्रीक (यूनानी) दर्शन पर बहुत प्रभाव पड़ा है। दोनों के बहुत से विचारों में समानता पाई जाती है। जेनोफिनस और परमैनिडस के सिद्धांतों तथा वेदांत में बहुत कुछ साम्य है*। सुकरात और प्लैटो का आत्मा के अमरत्व का सिद्धांत प्राच्य दर्शन का ही सिद्धांत है। सांख्य का ग्रीक दर्शन पर प्रभाव स्पष्ट और बहुत संभव है। ऐसा भी माना जाता है कि प्रसिद्ध ग्रीक विद्वान् पैथागोरस तो भारतवर्ष में दर्शन पढ़ने के लिये आया था। वही नहीं, अनेक्सार्चिस, पिरोह और अन्य कतिपय ग्रीक विद्वान् भी भारतीय दर्शन का अध्ययन करने के लिये यहाँ आए थे†। पैथागोरस ही पुनर्जन्म का सिद्धांत सीखकर ग्रीस में उसका प्रवर्तक हुआ। ग्रीस में प्रचलित प्राचीन कथाओं के अनुसार चेल्स, एंपि-डोक्लिडस, डिमॉक्रिटस आदि विद्वानों ने दर्शन पढ़ने के लिये पूर्व की यात्रा की थी‡। नास्तिक (Gnostic) मत पर भी सांख्य का प्रभाव पर्याप्त रूप से पड़ा§।

अंत में हम प्राच्य दर्शन के विषय में कुछ विद्वानों के कतिपय उद्धरण देकर इस विषय को समाप्त करते हैं।

श्लेगल ने लिखा है कि युरोप का उच्च से उच्च दर्शन, भारतीय दर्शन के दीपहर के प्रकाशमान सूर्य के सामने एक छोटे से टिमटिमाते हुए दीपक के समान है॥।

* ए० ए० मैकडानल; इंडियाज पास्ट, पृ० १२६।

† डाक्टर एनफील्ड; हिस्ट्री आफ फिलासफी; जि० १, पृ० ६२।

‡ प्रो० मैकडानल; संस्कृत लिटरेचर; पृ० ४२२।

§ वही; पृ० ४२३।

॥ हिस्ट्री आफ लिटरेचर।

सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर ने लिखा है कि भारतीय दर्शन में ज्ञान और कर्म की, धर्म और अधर्म की समस्या; जड़ चेतन और आत्मा की समस्या, स्वतंत्रकर्तृत्व और परतंत्रता का विचार, ईश्वर और जीव की समस्या, तथा अन्य विचारणीय प्रश्न, जैसे पुण्य, पाप, जीवन में सुख दुःख का विषम विभाग आदि पर भी बहुत विचार किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति, व्यवस्था और विकास के संबंध में भिन्न भिन्न कल्पनाएँ प्रादुर्भूत हुई थीं। वर्तमान विद्वानों के विचार कपिल के विकास सिद्धांत का बढ़ाया हुआ रूप ही हैं*।

श्रीमती डाक्टर बेसेंट लिखती हैं—भारतीय मनोविज्ञान यूरोपीय मनोविज्ञान से अधिक संपूर्ण है†।

प्रोफेसर मैक्स डंकर ने लिखा है कि हिंदुओं की तार्किक गवेषणाएँ वर्तमान समय की किसी जाति के तर्कशास्त्र से कम नहीं हैं‡।

ज्योतिष

अन्य शास्त्रों की तरह ज्योतिष शास्त्र भी भारत में प्राचीन काल से अत्यंत उन्नत था। वेदों में ज्योतिष के बहुत ऊँचे सिद्धांतों का

वर्णन मिलता है। एक ब्राह्मण में लिखा है ज्योतिष शास्त्र की पूर्णकालीन उन्नति कि सूर्य वस्तुतः उदय और अस्त नहीं होता, परंतु पृथ्वी के घूमने से दिन रात होते हैं§।

प्राचीन काल में यज्ञ यागादि की अधिकता होने से उसके लिये नक्षत्र और काल-निर्णय का ज्ञान सर्व-साधारण में भी प्रचलित था। ज्योतिष भी वेद का एक अंग माना जाता था, जिससे इसका अध्ययन बहुत

* हंटर; इंडियन गैजेटियर; इंडिया; पृ० २१३—१४।

† लैक्चर आन नेशनल यूनिवर्सिटीज इन इंडिया (कलकत्ता) जनवरी १९०६।

‡ हिस्ट्री आफ एंटिकिटी; जि० ३, पृ० ३१०।

§ पृ० ९० मैकडानल, इंडियाज़ पास्ट; पृ० १८१।

होता था। ईसा से भी पूर्व बृद्ध-गर्ग-संहिता और जैनिओं की सुरीय-पन्नति आदि ज्योतिष के ग्रंथ बन चुके थे। आश्वलायनसूत्र, पारस्कर गृह्य सूत्र, महाभारत और मानवधर्मशास्त्र आदि ग्रंथों में ज्योतिष की बहुत सी बातें उद्धरण रूप में आती हैं। ईसा के बाद का सबसे प्रथम और पूर्ण ग्रंथ सूर्य-सिद्धांत था, जो अब उपलब्ध नहीं है। उसका पूरा वर्णन वराहमिहिर ने अपनी 'पंचसिद्धांतिका' में किया है, वही उपलब्ध है। वर्तमान सूर्य-सिद्धांत उससे भिन्न और नवीन है। वराहमिहिर ने (५०५ ई०) अपनी 'पंचसिद्धांतिका' में प्राचीन प्रचलित पाँच सिद्धांतों—पुलिश, रोमक, वसिष्ठ, सौर (सूर्य) और पितामह—का करण रूप से (जिसमें अंकगणित की सहायता से ही ज्योतिष गणना हो सकती है और ज्याचाप कर्म की आवश्यकता नहीं रहती) वर्णन किया है और लाटाचार्य, सिंहाचार्य तथा उसके गुरु, आर्यभट, प्रद्युम्न और विजयनंदा के मतों को उद्धृत किया है, जिससे पाया जाता है कि ये विद्वान् उससे पूर्व के हैं; परंतु खेद है कि अब आर्यभट के अतिरिक्त अन्य किसी का ग्रंथ नहीं मिलता। आर्यभट ने, जिसका जन्म ४७६ ई० में हुआ था, 'आर्यभटीय' लिखा। उसने सूर्य और तारों के स्थिर होने तथा पृथिवी के घूमने के कारण दिन और रात होने का वर्णन किया है। उसने पृथिवी की परिधि ४८६७ योजन अर्थात् २४८३५ मील बताई है। उसने सूर्य और चंद्र के ग्रहण के वैज्ञानिक कारणों की भी व्याख्या की है। इसके बाद एक दूसरा आर्यभट भी हुआ, जिसने 'आर्यसिद्धांत' लिखा और जिसका भास्कराचार्य ने अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है।

वराहमिहिर के पाँच सिद्धांतों में से रोमक सिद्धांत बहुत संभवतः ग्रीक सिद्धांत है। भारतीय ज्योतिष और यूनानी ज्योतिष में बहुत से सिद्धांत परस्पर मिलते हैं। यह निश्चित करना कठिन है कि किसने किससे कितना सीखा।

✓ वराहमिहिर के बाद ज्योतिष का प्रधान विद्वान् ब्रह्मगुप्त हुआ ।
उसने ६२८ ई० के आसपास 'ब्राह्मस्फुट सिद्धांत' और 'खंडखाद्य'

लिखे । उसने प्रायः अपने पूर्व के विद्वानों
६०० ई०—१२००
ई० तक का ज्योतिष
साहित्य का समर्थन किया है । उसकी प्रतिपादन-शैली
अधिक विस्तृत और विधियुक्त है । उसने

ग्यारहवें अध्याय में आर्यभट्ट की आलोचना की
है । इसके कुछ वर्षों बाद प्रसिद्ध लल्ल हुआ, जिसने अपने 'लल्ल-
सिद्धांत' में आर्यभट्ट के भूभ्रमण के सिद्धांत का विरोध करते हुए लिखा
है—'यदि पृथ्वी घूमती होती तो वृत्त पर से उड़ा हुआ पत्थी अपने
घोंसले पर फिर नहीं जा सकता*' । लेकिन लल्ल को यह मालूम
नहीं था कि पृथ्वी अपने को घेरे हुए वातावरण सहित घूमती है ।
यदि उसको यह ज्ञात होता तो वह भूभ्रमण के सिद्धांत का विरोध
न करता । लल्ल के बाद हमारे समय में चतुर्वेद पृथ्वीक स्वामी
ने ८७८ ई० के आसपास ब्रह्मगुप्त के 'ब्राह्मस्फुट सिद्धांत' की टीका
लिखी । १०३८ ई० के करीब श्रोपति ने 'सिद्धांतशेखर' और
'धीकोटिद' (करण); वरुण ने ब्रह्मगुप्त के 'खंडखाद्य' पर टीका
और भोजदेव ने 'राजवृणांक' (करण) लिखे । ब्रह्मदेव ने ग्यार-
हवीं सदी के अंत में 'करणप्रकाश' नामक ग्रंथ लिखा ।

हमारे समय के अंत में प्रसिद्ध ज्योतिषी महेश्वर का पुत्र भास्करा-
चार्य हुआ । उसने 'सिद्धांतशिरोमणि', 'करणकुतूहल', 'करण-
केसरी', 'ग्रहगणित', 'ग्रहलाघव', 'ज्ञानभास्कर', 'सूर्यसिद्धांत व्याख्या'
और 'भास्कर-दीप्तिवीथ' लिखे । सूर्यसिद्धांत के बाद 'सिद्धांत-
शिरोमणि' एक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है । इसके चार भाग

० यदि च भ्रमति तदा तदा स्वकुलायं कथमानुयुः सगाः ।

इषवोऽभिगमः समुत्क्रान्त निस्ततः स्तुस्पातैर्दिशि ॥

लल्लसिद्धांत ।

लीलावती, बीजगणित, ग्रहगणिताध्याय और गोलाध्याय हैं। पहले दो तो गणित संबंधी हैं और पिछले दो ज्योतिष से संबंध रखते हैं। भास्कराचार्य ने इस ग्रंथ में पृथ्वी के गोल होने और उसमें आकर्षण-शक्ति होने के सिद्धांतों का प्रतिपादन बहुत अच्छी तरह किया है। वह लिखता है—

“गोलों की परिधि का सौवाँ भाग एक सीधी रेखा प्रतीत होता है। हमारी पृथ्वी भी एक बड़ा गोला है। मनुष्य को उसकी परिधि का एक बहुत ही छोटा भाग दीखता है, इसी लिये वह चपटी दीखती है*।”

“पृथ्वी अपनी आकर्षण शक्ति के जोर से सब चीजों को अपनी ओर खींचती है। इसी लिये सभी पदार्थ उस पर गिरते हुए नजर आते हैं†।”

न्यूटन से कई शताब्दियों पहले ही भास्कराचार्य ने आकर्षण का यह सिद्धांत (Theory of gravitation) इतनी उत्तमता से लिख दिया है कि उसे देखकर आश्चर्य होता है। इसी तरह उसने ज्योतिष के अन्य सिद्धांतों का भी बहुत अच्छी तरह वर्णन किया है।

इस तरह हमारे निर्दिष्ट काल में ज्योतिष शास्त्र बहुत उन्नत हो चुका था। अलबेरूनी ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में हमारे ज्योतिष शास्त्र की उन्नति तथा उसके कुछ सिद्धांतों का उल्लेख किया है। डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर के कथनानुसार ८ वीं सदी में अरब के विद्वानों ने भारत से ज्योतिष सीखी और सिद्धांतों का ‘सिद्धिंद’ नाम से

* समो वतः स्वात्परिधेः शतांशः पृथ्वी च पृथ्वी नितरां तनीयाद् ।

नरदच तत्पृष्ठगतस्य कृत्स्ना समेव तस्य प्रतिभास्यतः सा ॥

सिद्धांतशिरोमणि-गोलाध्याय ।

† आकृष्टशक्तिश्च मही तथा यत् स्वस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या ।

आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क पततिव्यं ते ॥

अरबी में अनुवाद किया* । खलीफा हारून रशीद और अलमामू ने भारतीय ज्योतिषियों को अरब में बुलाकर उनके ग्रंथों का अरबी में अनुवाद कराया† । हिंदू भी ग्रंथों की तरह अरबों के गुरु थे । आर्यभट्ट के ग्रंथों का अनुवाद कर 'अर्जवहूर' नाम रखा गया‡ । चीन में भी भारतीय ज्योतिष का बहुत प्रचार हुआ । प्रोफेसर विंस्टन ने लिखा है—'भारत में मिलनेवाली, क्रांतिवृत्त का विभाग, सौर और चांद्रमासों का निरूपण, ग्रहगति का निर्णय, अयनांश का विचार, सौरराशिमंडल, पृथ्वी की निराधार अपनी शक्ति से स्थिति, पृथ्वी की अपने अक्ष पर दैनिक गति, चंद्र का भ्रमण और पृथ्वी से उसका अंतर, ग्रहों की कक्षा का मान तथा ग्रहण का गणित आदि ऐसी बातें हैं, जो अशिक्षित जातियों में नहीं पाई जातों'§ ।

भारत में अत्यंत प्राचीन काल से लोगों का फलित ज्योतिष पर विश्वास रहा है । ब्राह्मणों और धर्मसूत्रों में भी इसका कहीं कहीं उल्लेख पाया जाता है । इसके प्राचीन ग्रंथ फलित ज्योतिष नहीं मिलते । बहुत संभव है कि वे नष्ट हो गए हों । वृद्धगर्ग-संहिता में भी इसका कुछ उल्लेख मिलता है । वराह-मिहिर के कथनानुसार ज्योतिष शास्त्र तंत्र, होरा और शाखा तीन विभागों में विभक्त है । तंत्र या सिद्धांत ज्योतिष का वर्णन ऊपर किया जा चुका है । होरा और शाखा का संबंध फलित ज्योतिष से है । होरा में जन्म-कुंडली आदि से मनुष्य के जीवन संबंधी फला-फल का विचार रहता है । शाखा या संहिता में धूम्रकेतु, उल्का-पात, शकुन, और मुहूर्त आदि का विवेचन होता है । वराहमिहिर

* हंटर; इंडियन गैजेटियर-इंडिया; पृ० २१८ ।

† मिल; हिस्ट्री ऑफ इंडिया; जिल्द २, पृ० १०७ ।

‡ वेबर; इंडियन लिटरेचर; पृ० २२२ ।

§ मिल; हिस्ट्री ऑफ इंडिया; जि० २, पृ० १०७ ।

की बृहत्संहिता फलित ज्योतिष के लिये मुख्य ग्रंथ है। इसमें मकान बनाने, कूप और तालाब खोदने, बाग लगाने, मूर्ति-स्थापना आदि के लिये बहुत से शकुन दिए हैं। विवाह और दिग्विजय के लिये प्रस्थान के संबंध में उसने कई ग्रंथ लिखे। फलित ज्योतिष पर 'बृहज्जातक' नाम से भी उसने एक बड़ा ग्रंथ लिखा, जो बहुत प्रसिद्ध है। ग्रह और नक्षत्रों की स्थिति देखकर मनुष्य का भविष्य बताना इस पुस्तक का मुख्य विषय है। ६०० ई० के करीब बराह-मिहिर के पुत्र पृथुयशा ने 'हेरापट्पंचाशिका' नामक फलित ज्योतिष संबंधी एक पुस्तक लिखी। दसवीं शताब्दी में भट्टोत्पल ने उपर्युक्त पुस्तक तथा बराहमिहिर के ग्रंथों पर बहुत उत्तम और विस्तृत टीकाएँ लिखीं। श्रीपति (१०३६ ई०) ने भी इस संबंध में 'रत्न-माला' और 'जातकपद्धति' ग्रंथ लिखे। इसके पीछे भी इस विषय के बहुत से ग्रंथ लिखे गए।

गणित

ज्योतिष के इस विकास के साथ गणित शास्त्र का विकास भी होना आवश्यक था। हम देखते हैं कि ६०० ई० तक भारतवर्ष गणितशास्त्र में पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था। भारतीय गणित शास्त्र उसने ऐसे ऐसे उच्च सिद्धांतों का आविष्कार कर लिया था, जिनका यूरोपियन विद्वानों को कई सदियों पीछे ज्ञान हुआ। प्रसिद्ध विद्वान् काजोरी ने अपनी "हिस्ट्री ऑफ मैथे-मैटिक्स" में लिखा है—“यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय गणित ने हमारे वर्तमान विज्ञान में किस हद तक प्रवेश किया है। वर्तमान बीजगणित और अंकगणित दोनों की विधि और भाव भारतीय हैं, यूनानी नहीं। गणित के उन संपूर्ण और शुद्ध चिह्नों,

भारतीय गणित की उन क्रियाओं, जो आज प्रचलित क्रियाओं की तरह संपूर्ण हैं और उनके बीजगणित की विधियों पर विचार तो करो और फिर सोचो कि गंगा के तीर पर रहनेवाले ब्राह्मण किस श्रेय के भागी नहीं हैं? दुर्भाग्य से भारत के कई अमूल्य आविष्कार यूरोप में बहुत पोछे पहुँचे, जिनका प्रभाव, यदि वे दो तीन सदी पहले पहुँचते तो बहुत पड़ता” ।

इसी तरह डि मार्गन ने लिखा है—“हिंदू गणित यूनानी गणित से बहुत उच्च कोटि का है । भारतीय गणित वह है, जिसे हम आज प्रयुक्त करते हैं ।”

गणित पर सामान्य रूप से विचार करने से पूर्व अंक विद्या पर विचार करना अधिक लाभप्रद और उपयोगी होगा ।

भारतवर्ष ने अन्य देशवासियों को जो अनेक बातें सिखलाईं, उनमें सबसे अधिक महत्त्व अंक-विद्या का है । संसार भर में गणित, ज्योतिष, विज्ञान आदि में आज जो उन्नति पाई जाती है उसका मूल कारण वर्तमान अंक-क्रम है, जिसमें एक से नौ तक के अंक और शून्य, इन दस चिह्नों से अंक-विद्या का सारा काम चल जाता है । यह क्रम भारतवासियों ने ही निकाला और उसे सारे संसार ने अपनाया । हिंदी के पाठकों में से कदाचित् थोड़े ही यह जानते होंगे कि इस अंक-क्रम के निर्माण से पूर्व संसार का अंक-क्रम क्या था और वह गणित ज्योतिष एवं विज्ञान आदि की उन्नति के लिये कितना बाधक था? इसलिये यहाँ संक्षेप से संसार के प्राचीन अंक-क्रम का विवेचन कर वर्तमान अंकों की भारतीय उत्पत्ति के संबंध में कुछ कहना अनुचित न होगा ।

भारतवर्ष के प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों, सिक्कों तथा हस्त-लिखित पुस्तकों आदि के देखने से पाया जाता है कि प्राचीन काल

में हमारे यहाँ का अंक-क्रम वर्तमान क्रम से विलकुल ही भिन्न था । उसमें १ से ८ तक के अंकों के नौ चिह्न, १०, २०, ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८० और ९० के नौ चिह्न तथा १०० और १००० के लिये एक एक चिह्न नियत थे । इन्हीं बीस चिह्नों से ८८८८८ तक की संख्या प्रदर्शित की जाती थी । उस काल में लाख करोड़ आदि के लिये क्या चिह्न थे, इसका निश्चित रूप से अब तक कोई पता नहीं लगा । इन अंकों के लिखने का क्रम १ से ८ तक तो वैसा ही था जैसा अब है । १० के लिये नवीन शैली की तरह १ के साथ ० नहीं, वरन् एक नियत चिह्न ही लिखा जाता था । ऐसे ही २०, ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ९०, १०० और १००० के लिये भी अपने अपने नियत चिह्न ही रहते थे । ११ से ८८ तक लिखने का क्रम ऐसा था कि पहले दहाई का अंक लिखकर उसके आगे इकाई का अंक लिखा जाता था, जैसा कि १५ के लिये १० का चिह्न लिखकर उसके आगे ५; और ३३ के लिये ३० और ३ इत्यादि; २०० के लिये १०० का चिह्न लिखकर उसकी दाहिनी ओर कभी ऊपर कभी मध्य और कभी नीचे की तरफ एक सीधी (तिरछी) रेखा जोड़ी जाती थी । ३०० के चिह्न के लिये १०० के चिह्न के साथ वैसी ही दो लकीरें जोड़ी जाती थीं । ४०० से ९०० तक के लिये १०० का चिह्न लिखकर उसके साथ क्रमशः ४ से ८ तक के अंक एक छोटी सी आड़ी लकीर से जोड़ दिए जाते थे । १०१ से ८८८ तक लिखने में सँकड़े के अंक के आगे दहाई और इकाई के अंक लिखे जाते थे, जैसे कि १२८ के लिये १००, २० और ८; ८५५ के लिये ८००, ५० और ५ । यदि ऐसे अंकों में दहाई का अंक न हो तो सँकड़े के बाद इकाई का अंक रखा जाता था, जैसे कि ३०१ के लिये ३०० और १ । २००० के लिये १००० के चिह्न की दाहिनी ओर ऊपर को एक छोटी सी सीधी आड़ी (या नीचे को

मुड़ी हुई) लकीर जोड़ी जाती थी और ३०० के लिये वैसी ही दो लकीरें, ऐसे ही ८८८८८ लिखने हों तो ८००००, ८०००, ८००, ८० और ८ लिखते थे ।

भारतवर्ष में अंकों की यह प्राचीन शैली कब से प्रचलित हुई, इसका पता नहीं चलता, परंतु अशोक के सिद्धापुर, सहस्राम और रूपनाथ के लेखों में इस शैली के २००, ५० तथा ६ के अंक मिलते हैं, जिनमें २०० का अंक तीनों लेखों में विलकुल ही भिन्न प्रकार का है और ५० तथा ६ के दो दो प्रकार के रूप मिलते हैं ।

भारतवर्ष के इस जटिल अंक-क्रम की अपेक्षा मिश्र का सबसे पुराना अंक-क्रम हिरोग्लिफिक (चित्रलिपि) अधिक जटिल था । उसमें मूल अंकों के चिह्न केवल तीन अर्थात् १, १० और १०० के थे । इन्हीं तीन चिह्नों को कई बार लिखने से ८८८ तक के अंक बनते थे । १ से ८ तक के अंक एक के चिह्न (खड़ी लकीर) को क्रमशः १ से ८ बार लिखने से बनते थे । ११ से १८ तक के लिये १० के चिह्न के बाईं ओर क्रमशः १ से ८ तक खड़ी लकीरें खींचते थे । २० के लिये १० का चिह्न दो बार और ३० से ८० तक के लिये क्रमशः तीन से नौ बार लिखा जाता था । २०० बनाने के लिये १०० के चिह्न को दो बार लिखते थे । उसी तरह तीन सौ के लिये तीन बार लिखते थे । इस क्रम में १००० से १०००० के लिये भी एक एक चित्र था और लाख के लिये मंडक और दस लाख के लिये हाथ फैलाए हुए पुरुष का चित्र था । मिश्र का सबसे पुराना अंक-क्रम यही था, जो हमारे अंक-क्रम से भी अधिक जटिल और गणना की विलकुल प्रारंभिक अवस्था का सूचक था ।

फिनिशियन अंक भी इसी से निकले हैं, जिनका क्रम भी ऐसा ही है, केवल दस के चिह्न को बार बार लिखने की रीति को कुछ सरल बनाने के लिये उसमें २० के अंक के लिये नवीन चिह्न बनाया

गया, जिससे ३० के लिये २० और १०, ६० के लिये २०, २०, २०, २० और १० लिखने पड़ते थे।

पीछे से मिस्त्रवालों ने किसी सरल विदेशी अंक-क्रम को देखकर अथवा अपनी बुद्धि से अपने भड़े हिपेरोग्लिफिक अंक-क्रम को सरल करने के लिये भारतीय अंक-क्रम जैसा नवीन क्रम बनाया, जिससे १ से ६ तक के लिये नौ, १० से ६० तक दहाइयों के लिए नौ और १०० तथा १००० के लिये एक एक चिह्न स्थिर किया। इस अंक-क्रम को हिपेरेटिक कहते हैं और इसमें भी ऊपर के दोनों क्रमों के समान अंक दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखे जाते थे।

हिमाटिक अंक हिपेरेटिक से ही निकले हैं और इन दोनों में अंतर बहुत कम है, जो समय के साथ हुआ हो।

यूरोप में भी प्राचीन काल में ग्रीक लोग केवल दस हजार तक की संख्या जानते थे और रोमन लोग एक हजार तक की। उनके अंक-क्रम का प्रचार अब तक कभी कभी प्रकाशित पुस्तकों में सन् लिखने में, भूमिका में पृष्ठ-संख्या बतलाने के लिये अथवा घड़ियों में अंक बतलाने में प्रचलित हैं। उसमें १, ५, १०, ५०, १०० तथा १००० के चिह्न हैं, जिनको रोमन अंक कहते हैं। आजकल सब पढ़े लिखे मनुष्य रोमन अंकों से परिचित हैं, इससे उनके विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। इन सब प्राचीन अंक-क्रमों से ज्योतिष, गणित और विज्ञान की विशेष उन्नति होने की कोई संभावना नहीं थी। संसार की वर्तमान उन्नति इन्हीं नवीन अंक-क्रमों से हुई है। यह उपयोगी अंक-क्रम भारतवासियों ने ही निर्माण किया। इस क्रम में दाहिनी से बाईं ओर हटने पर प्रत्येक अंक का स्थानीय मूल्य दस गुना बढ़ जाता है, जैसे ११११११ में छहों अंक १ के ही हैं, परंतु पहले से (दाहिनी ओर से लेने से) १, दूसरे से १०, तीसरे से १००, चौथे से १०००, पाँचवें से १००००

और छठे से १००००० का बोध होता है। इसी से इस संख्या-सूचक क्रम को दशगुणोत्तर संख्या कहते हैं और वर्तमान समय में बहुधा संसार का अंक-क्रम यही है। यह अंक-क्रम भारतवासियों ने कब निकाला इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। प्राचीन शिलालेखों और दानपत्रों के लिखनेवालों ने पुराने ढर्रे पर चलकर ई० स० की छठी शताब्दी तक के लेखादि में पुरानी शैली से ही अंक दिए हैं। सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक के शिलालेखादि लिखनेवालों में से किसी ने प्राचीन तो किसी ने नवीन शैली का अनुकरण किया है; परंतु गणितकार नवीन क्रम का व्यवहार छठी शताब्दी के बहुत पहले से करने लगे थे। वराहमिहिर की 'पंचसिद्धांतिका' में सर्वत्र अंक नवीन शैली से ही दिए गए हैं। इससे निश्चित है कि ई० स० की पाँचवीं शताब्दी के अंत में तो ज्योतिषी लोग नवीन शैली के अंकों का व्यवहार करते थे। भट्टोत्पल ने 'बृहत्संहिता' की टीका में कई जगह 'पुलिशसिद्धांत' से, जिसका वराहमिहिर ने अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है, वचन उद्धृत किए हैं। उसने एक और स्थान पर 'मूल पुलिशसिद्धांत' के नाम से एक श्लोक भी उद्धृत किया है। उन दोनों में अंक वर्तमान शैली से ही मिलते हैं। इससे जान पड़ता है कि वराहमिहिर के पूर्व भी इस शैली का प्रचार था।

योग सूत्र के प्रसिद्ध भाष्य में व्यास ने (ई० स० ३०० के आसपास) दशगुणोत्तर अंक-क्रम का बहुत स्पष्ट उदाहरण दिया है। जैसे एक का अंक '१', सैकड़ों के स्थान पर १०० के लिये, दहाई के स्थान पर १० के लिये और इकाई के स्थान पर एक के लिये प्रयुक्त होता है। बखशाली गाँव (युसुफजई जिले, पंजाब में) से भोजपत्र पर लिखी हुई एक प्राचीन पुस्तक जमीन में गड़ी हुई मिली है, जिसमें अंक नवीन शैली से ही दिए हैं। प्रसिद्ध चिट्ठान् डाक्टर हार्नेली ने उसका रचना-काल तीसरी अथवा चौथी शताब्दी होना

अनुमान किया है। इस पर डा० थूलर ने लिखा है कि यदि अंक-गणित की प्राचीनता का हॉर्नली का यह बहुत संभावित अनुमान ठीक हो तो उस (अंक-क्रम) के निर्माण का समय ई० स० के प्रारंभकाल अथवा उससे भी प्राचीन काल का होगा। अभी तक तो नवीन शैली के अंकों की प्राचीनता का यहीं तक पता चला है।

शून्य की योजना कर नौ अंकों से गणित शास्त्र को सरल करने-वाले नवीन शैली के अंकों का प्रचार पहले पहल किस विद्वान् ने किया इसका कुछ पता नहीं चलता। केवल यही पाया जाता है कि नवीन शैली के अंकों की सृष्टि भारत में हुई। फिर यहाँ से अरबों ने यह क्रम सीखा और अरबों से उसका प्रवेश यूरोप में हुआ। इससे पहले एशिया और यूरोप की चाल्डियन, हिब्रू, ग्रीक, अरब आदि जातियाँ वर्षमाला के अक्षरों से अंकों का काम लेती थीं। अरबों में खलीफा वलीद के समय (ई० स० ७०५-७१५) तक अंकों का प्रचार नहीं था, जिसके बाद उन्होंने भारतवासियों से अंक लिए*।

इस विषय में अँगरेजी विश्वकोष 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' में लिखा है "इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे (अँगरेजी) वर्तमान अंक-क्रम (दशगुणोत्तर) की उत्पत्ति भारतीय है। संभवतः खगोल-संबंधी उन सारणियों के साथ, जिनको एक भारतीय राजदूत ई० स० ७७३ में बगदाद में लाया, इन अंकों का प्रवेश अरब में हुआ। फिर ई० स० की नवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में प्रसिद्ध अबुजफर मुहम्मद अल् खारिज़्मी ने अरबी में उक्त क्रम का विवेचन किया और उसी समय से अरबों में उसका प्रचार बढ़ने लगा।"

"यूरोप में शून्य सहित यह संपूर्ण अंक-क्रम ई० स० की बारहवीं शताब्दी में अरबों से लिया गया और इस क्रम से बना हुआ

० प्राचीन और नवीन अंक-क्रम के विस्तृत विवरण के लिये देखो भारतीय प्राचीन लिपिमाला; पृ० ११०-११८।

अंकगणित अल्गोरिद्मस (अल्गोरिथ्म) नाम से प्रसिद्ध हुआ । यह (अल्गोरिद्मस) विदेशी शब्द 'अल्गारिस्मी' का अचरांतर मात्र है, जैसा कि रेनॉड ने अनुमान किया था और उक्त अरब गणित शास्त्र की अनुपलब्ध अंकगणित की पुस्तक के कैत्रिज से मिले हुए अद्वितीय हस्तलिखित अनुवाद के, जो संभवतः एडेलहर्ड का किया हुआ है, प्रसिद्ध होने के बाद वह (अनुमान) प्रमाणित हो गया है । खारिस्मी के अंकगणित के प्रकारों को पिछले पूर्वय विद्वानों ने सरल किया और उन अधिक सरल किए हुए प्रकारों का परिचय यूरोप में पोसा के लिओनाडों ने और पूर्वी में माक्सिमस् प्लैनुडेंस ने प्रचार किया । 'जीरो' शब्द की उत्पत्ति अरबी के 'सिफर' से, लिओनाडों के प्रयुक्त किए हुए 'जिफिरो' शब्द द्वारा प्रतीत होती है* ।

प्रसिद्ध विद्वान् अलबेरूनी ने लिखा है—“हिंदू लोग अपनी वर्ण-माला के अक्षरों को अंकों के स्थान में काम में नहीं लाते, जैसे कि हम हिब्रू वर्णमाला के क्रम से अरबी अक्षरों को काम में लाते हैं । भारतवर्ष के अलग अलग विभागों में जैसे अक्षरों की आकृतियाँ भिन्न हैं, वैसे ही संख्या-सूचक चिह्नों की भी आकृतियाँ, जिनको अंक कहते हैं, भिन्न हैं । जिन अंकों को हम काम में लाते हैं वे हिंदुओं के सब से सुंदर अंकों से लिए गए हैं ।.....जिन भिन्न भिन्न जातियों से मेरा संपर्क रहा, उन सब की भाषाओं के संख्यासूचक क्रम के नामों (इकाई, दहाई, सैकड़ा आदि) का मैंने अध्ययन किया है, जिससे मालूम हुआ कि कोई जाति एक हजार से आगे नहीं जानती । अरब लोग भी एक हजार तक (नाम) जानते हैं ।.....इस विषय में मैंने एक अलग पुस्तक लिखी है । अपने अंक-क्रम में, जो हजार से अधिक जानते हैं, वे हिंदू हैं ।.....वे संख्यासूचक क्रम को अठारवें स्थान तक ले जाते हैं, जिसको परार्द्ध कहते हैं । अंक-

गणित में हिंदू लोग अंकों का उसी तरह प्रयोग करते हैं जैसे कि हम करते हैं । मैंने एक पुस्तक लिखकर यह बतलाया है कि इस विषय में हिंदू हमसे कितने आगे बढ़े हुए हैं* ।”

गणित-विषयक जो पुस्तकें उपलब्ध होती हैं, वे प्रायः ज्योतिष के उन्हीं विद्वानों की हैं, जिनका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं ।

अर्यभट्ट की पुस्तक के प्रथम दो भाग; ‘ब्राह्म-स्फुटसिद्धांत’ में गणिताध्याय और कुतुकाध्याय

अंकगणित
तथा ‘सिद्धांतशिरोमणि’ में लीलावती और बीजगणित नामक अध्याय गणित से संबंध रखते हैं । इन पुस्तकों को देखने से पता लगता है कि वे गणित के सभी उच्च सिद्धांतों से परिचित थे । सरल गणित के आठों नियमों—योग, ऋण, गुणा, भाग, वर्गीकरण, घनीकरण, वर्गमूल और घनमूल—का उनमें पूर्ण वर्णन मिलता है । इसके बाद भिन्न संबंधी, शून्य संबंधी, चतुर्फल, कार्य-संबंधी, त्रैराशिक, श्रेढी, कुट्टक तथा अनंत राशियों के मान-संबंधी अर्थात् शून्य गणित और व्याज संबंधी नियमों का भी वर्णन मिलता है ।

केवल अंक गणित ही नहीं, ज्योतिष के लिये बीजगणित का भी उपयोग बहुत किया जाता था । उपर्युक्त पुस्तकों में हम बीजगणित

बीजगणित
के बहुत उन्नत सिद्धांत देखते हैं । यह भी यहीं विकसित हुआ था । श्रेष्ठ काजोरी ने लिखा है कि ‘बीजगणित के प्रथम यूनानी विद्वान् डायोफैंट ने भी भारत से ही इस संबंध में पहले पहल ज्ञान प्राप्त किया ।’ भारत ने बीजगणित यूनान से सीखा, यह ठीक नहीं है । भारतीय और यूनानी बीजगणित में बहुत से भेद हैं । भारत ने बारहवीं सदी तक बीजगणित संबंधी जो नियम आविष्कृत किए थे, वे यूरोप में सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में प्रचलित हुए । भारतीयों ने बीजगणित में

बहुत से मुख्य नियम आविष्कृत कर लिए थे जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

- ✱ १—ऋण राशियों के समीकरण की कल्पना ।
- २—वर्ग-समीकरण को सरल करना ।
- ३—अंक-पाश के नियम (यूनानी इन्हें नहीं जानते थे) ।
- ४—एक वर्ण और अनेक वर्ण समीकरण ।
- ५—केंद्र फल का निर्णय करना, जिसमें व्यक्त और अव्यक्त गणित का विकास हो ।

भास्कराचार्य ने यह भी सिद्ध किया है—

$$० \times ० = ०; ०^२ = ०; \sqrt{०} = ०; ० \div ० = ०$$

भारतवर्ष से ही बीजगणित भी अरबों के द्वारा यूरोप में गया । प्रो० मोनियर विलियम्स कहते हैं कि बीजगणित और ज्यामिति तथा खगोल में उनका प्रयोग भारतीयों ने ही आविष्कृत किया है* । मूसा और याकूब ने भारतीय बीजगणित का प्रचार अरब में किया था । अरब से यूरोप में इसका प्रचार हुआ ।

इसी तरह रेखागणित में भी भारत ने बहुत उन्नति की थी । भारत का प्राचीनतम रेखागणित बौधायन और आपस्तम्ब के शुल्बसूत्रों में पाया जाता है । यज्ञवेदियों और कुण्डों के रेखागणित बनाने में इसका बहुत उपयोग होता था । यज्ञ और संस्कार करानेवाले पुरोहित जानते थे कि आयत का क्षेत्रफल वर्ग में और वर्ग का क्षेत्रफल वृत्त में किस तरह लाया जाता है । यह भी यूनानी प्रभाव से बिल्कुल मुक्त था । रेखागणित की कुछ ✱ सिद्धियाँ हम नीचे देते हैं, जो हमारे समय तक ज्ञात हो चुकी थीं—

* इंडियन विजडम, पृ० १८१ ।

† विनयकुमार सरकार; हिंदू एथीवमेंट्स इन एक्जैक्ट साइंसेज़; पृ० १२—१३ ।

१—पैथगोरस की सिद्धि अर्थात् समकोण त्रिभुज की दो भुजाओं का वर्गों का योग कर्ण के वर्ग के बराबर होता है ।

२—दो वर्गों के योग या अंतर के समान वर्ग बनाना ।

३—किसी भी आयत को वर्ग में परिणत करना ।

४—✓ का वास्तविक मान और राशियों का मध्यमाहरण ।

५—वर्गों को वृत्त में परिणत करना ।

६—वृत्त का क्षेत्रफल ।

७—विषम चतुर्भुज में करणानयन की विधि ।

८—त्रिभुज, वृत्त और विषम चतुर्भुज का क्षेत्रफल ।

९—ब्रह्मगुप्त ने वृत्तखंड की ज्या तथा उस पर से खिंचे हुए कोर्दंड तक के लंब के मालूम होने पर व्यास और वृत्तखंड का क्षेत्रफल निकालने के नियम भी दिए हैं ।

१०—शंकु और वर्तुलाकार पदार्थों का क्षेत्रफल ।

भास्कराचार्य ने अपने पूर्व के बहुत से गणित के विद्वानों—आर्यभट, लल्ल, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, महावीर (८५० ई०), श्रीधर (८५३ ई०), आर्यभट (द्वितीय) और उत्पल (९७० ई०)—के स्थिर किए हुए नियमों का सार देकर उनकी कृति बतलाई है । बीजगणित की भाँति याकूब ने ही भारतीय रेखागणित का प्रचार अरब में किया* ।

प्राचीन भारतीय त्रिकोणमिति से भी पूर्णतया परिचित थे । उन्होंने ज्या (Sine) और उत्क्रम ज्या (Versed sine) की सारणियाँ बना ली थीं । इन सारणियों में वृत्तपाद के त्रिकोणमिति चौबीसवें भाग तक का प्रयोग है । दोनों सारणियों में अभिन्न मान से ज्या और उत्क्रम ज्या का परिदर्शन मिलता है । इस त्रिकोणमिति का प्रयोग ज्योतिष के लिये होता था ।

* विनयकुमार सरकार; हिंदू यूजीवमेंट्स इन एक्जैक्ट साइंसेज़; पृ०

वाचस्पति ने चापीय घनक्षेत्र निकालने का साधन बिलकुल मौलिक रीति से दिया है । इसी तरह न्यूटन से पाँच शताब्दी पूर्व चलन गणित का आविष्कार कर भास्कराचार्य ने उसे ज्योतिष में प्रयुक्त किया था । श्रीयुत ब्रजेन्द्रनाथ सील के कथनानुसार भास्कराचार्य राशियों के तात्कालिक गणित साधन में आर्किमीडिस से अधिक शुद्ध और प्रबल हैं । भास्कराचार्य ने ग्रह की क्षणिक गति की गणना करते हुए एक सेकंड के ३३७५ वें भाग—त्रुटि—का भी उल्लेख किया है ।

भारतीय, भूगोल और ग्रहमंडल-संबंधी गतिशास्त्र से भी परिचित थे । स्थितिशास्त्र (Statics) और गतिशास्त्र (Dynamics) से भी भारतीय कुछ न कुछ परिचित अवश्य थे* ।

आयुर्वेद

आयुर्वेद भी बहुत प्राचीन काल से भारतवर्ष में अत्यंत उन्नत था । वैदिक साहित्य में हम शरीर-विद्या, गर्भविद्या और स्वच्छता का मूल देखते हैं । अथर्ववेद में रोगों के नाम और आयुर्वेद का साहित्य उनके लक्षण तक ही नहीं, किंतु मनुष्य के शरीर की दृष्टियों तक की पूरी संख्या दी है । बौद्ध काल में वैद्यक का बहुत विकास हुआ । अशोक के पार्वतीय लेखों के दूसरे प्रज्ञापन में पशु-चिकित्सा और मनुष्य-चिकित्सा एवं मनुष्यों और पशुओं के उपयोग की औषधियों का उल्लेख है । चीनी तुर्किस्तान से ३५० ई० के आसपास के भोजपत्र पर लिखे संस्कृत ग्रंथ मिले हैं, जिनमें से तीन आयुर्वेद संबंधी हैं । आयुर्वेद के प्राचीन विद्वानों में चरक का नाम बहुत प्रसिद्ध है । उसके समय और निवास स्थान के

* विनयकुमार सरकार; हिंदू एचीवमेंट्स इन एजुकेशन साइंसेज; ५०
२०-२७ ।

विषय में ऐतिहासिकों में मतभेद है। उसकी 'चरकसंहिता' अग्निवेश के आधार पर लिखी गई है। 'चरकसंहिता' वैद्यक का अत्यंत उत्कृष्ट ग्रंथ है। 'सुश्रुत-संहिता' भी एक बहुत महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसका कम्बोडिया में नवीं तथा दसवीं शताब्दी में प्रचार हो चुका था। यह ग्रंथ पहले सूत्रों में लिखा गया था। ये दोनों ग्रंथ हमारे समय के पूर्व के हैं।

हमारे निर्दिष्ट काल के प्रारंभ के दो आयुर्वेद के ग्रंथ 'अष्टांग-संग्रह' और 'अष्टांग-हृदय-संहिता' हैं। बृद्ध वाग्भट्ट ने 'अष्टांग-संग्रह' संभवतः सातवीं सदी के आस पास लिखा था। दूसरे ग्रंथ का कर्त्ता भी वाग्भट्ट ही है, जो पहले से भिन्न है और संभवतः ८०० ई० के आस पास हुआ था। इसी समय इंदुकर के पुत्र माधवकर ने 'हृत्विनिश्चय' या 'माधवनिदान' नामक एक उत्कृष्ट ग्रंथ लिखा। यह ग्रंथ आज भी निदान के संबंध में बहुत प्रामाणिक समझा जाता है। इसमें रोगों के निदान आदि पर बहुत विस्तार से विचार किया गया है। वृद्ध के 'सिद्धियोग' में ज्वर आदि के समय विषों के परिणाम आदि पर अच्छा विचार किया गया है। १०६० ई० में बंगाल के चक्रपाणि दत्त ने 'सुश्रुत' और 'चरक' की टीका लिखने के अतिरिक्त 'सिद्धियोग' के आधार पर 'चिकित्सा-सार-संग्रह' नामक ग्रंथ लिखा। हमारे समय के अंत में १२०० ई० के करीब शार्ङ्गधर ने 'शार्ङ्गधर संहिता' लिखी। उसमें अक्मीम और पारे आदि औषधियों के वर्णन के अतिरिक्त नाड़ी-विज्ञान के भी नियम दिए हैं। पारे का उस समय बहुत प्रचार था। अलबेस्सी ने भी पारे का वर्णन किया है। वनस्पति शास्त्र के संबंध में कई कोश भी लिखे गए, जिनमें 'शब्दप्रदीप' और 'निर्घंटु' प्रसिद्ध हैं। हमारे यहाँ शरीर-विद्या (Anatomy) बहुत उन्नत थी। उस समय के ग्रंथों में हड्डियों, नाड़ियों और सूक्ष्म शिराओं आदि का पूर्ण विवेचन मिलता है।

शल्यविद्या का भी उस समय आश्चर्यजनक विकास हो चुका था। 'सुश्रुत' में शल्यविद्या का बहुत वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में

शल्यविद्या का विकास आयुर्वेद के जन्मदाता तीन आचार्यों—दिवोदास, भारद्वाज और अश्विनौ—का उल्लेख है*।

महाभारत में भी भोष्म के शरशय्या पर लेटने पर दुर्योधन का शल्य निकालनेवाले वैद्यों के लाने का उल्लेख है। विनयपिटक के महावग्ग में लिखा है—“अश्वघोष ने एक भिक्षु के भगंदर रोग पर शल्य कर्म का प्रयोग किया था†।” उस समय जीवक नाम का बौद्ध भिक्षु आयुर्वेद का विशेषतः शल्यचिकित्सा का बड़ा भारी विद्वान् हुआ, जिसका विस्तृत वर्णन महावग्ग में मिलता है। उसने भगंदर, शिरोरोग, कामला आदि विषम रोगों के आराम करने में प्रसिद्धि पाई थी। भोज-प्रबंध में बेहोश कर शल्य कर्म करने का उल्लेख है। चौर फाड़ के शस्त्र साधारणतया लोहे के बनाए जाते थे, परंतु राजा एवं संपन्न लोगों के लिये स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि के भी प्रयुक्त होते थे। यंत्रों के लिये लिखा है कि वे तेज, खुरदरे, परंतु चिकने मुखवाले, सुदृढ़, उत्तम रूपवाले और सुगमता से पकड़े जाने के योग्य होने चाहिएँ। भिन्न भिन्न कार्यों के लिये शस्त्रों की धार, परिमाण आदि भिन्न भिन्न होते थे। शस्त्र कुंठित न हो जायें, इसलिये लकड़ी के शस्त्रकोश (Cases) भी बनाए जाते थे, जिनके ऊपर और अंदर कोमल रेशम या ऊन का कपड़ा लगा रहता था। शस्त्र आठ प्रकार के—छेद्य, भेद्य, वेध्य (शरीर के किसी भाग में से पानी निकालना), एण्य (नाड़ी आदि में व्रण का ढूँढ़ना), आल्य (दाँत या पथरी आदि का निकालना), विस्त्राव्य (रुधिर

* यद् यावत् दिवोदासाय वर्त्ति भारद्वाजायश्विनाहृतता ।

ऋग्वेद, म० १-१२-१६

† एश्यंठं सर्जिकल इंस्ट्रुमेंट्स; जि० १ ।

का विस्मरण करना), सीव्य (दो भागों को सीना) और लैव्य (चेचक के टीके आदि में कुचलना)—हैं । हमारे समय के वाग्भट्ट ने तेरह प्रकार के शल्य कर्म माने हैं । सुश्रुत ने यंत्रों (औजार जो चीरने के काम में आते हों) की संख्या १०१ मानी है; परंतु वाग्भट्ट ने ११४ मानकर आगे लिख दिया है कि कर्म अनिश्चित हैं, इसलिये यंत्र-संख्या भी अनिश्चित है; वैद्य अपने आवश्यकतानुसार यंत्र बना सकता है । शस्त्रों की संख्या भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न मानी है । इन यंत्रों और शस्त्रों का विस्तृत वर्णन भी उन ग्रंथों में दिया है । अग्नि, भगंदर, योनि-रोग, मूत्रदोष, आर्तव दोष, शुक्रदोष आदि रोगों के लिये भिन्न भिन्न यंत्र प्रयुक्त होते थे । ब्रणवस्ति, वस्ति-यंत्र, पुष्पनेत्र (लिंग में औषध प्रविष्ट करने के लिये), शलाका-यंत्र, नखाकृति, गर्भशंकु, प्रजननशंकु (जीवित शिशु को गर्भाशय से बाहर करने के लिये), सर्पमुख (सीने के लिये) आदि बहुत से यंत्र हैं । ब्रणों और उदरादि संबंधी रोगों के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की पट्टी बाँधने का भी वर्णन किया गया है । गुदभ्रंश के लिये चर्म-बंधन का भी उल्लेख है । मनुष्य या घोड़े के बाल सीने आदि के लिये प्रयोग में आते थे । दूषित रुधिर निकालने के लिये जोक का भी प्रयोग होता था । जोक की पहले परीक्षा कर ली जाती थी कि वह विपैली है अथवा नहीं । टीके के समान मूर्छा में शरीर को तीक्ष्ण अस्त्र से लेखनकर दवाई को रुधिर में मिला दिया जाता था । गतित्रण (Sinus) तथा अर्बुदों की चिकित्सा में भी सूचियों का प्रयोग होता था । त्रिकूर्चक शस्त्र का भी कुष्ठ आदि में प्रयोग होता था । आजकल लेखन करते समय टीका लगाने के लिये जिस तीन-चार सुइयोंवाले औजार का प्रयोग होता है, वह यही त्रिकूर्चक है । वर्तमान काल का Tooth-elevator पहले दंतशंकु के नाम से प्रचलित था ।

प्राचीन आर्य कृत्रिम दाँतों का बनाना और लगाना तथा कृत्रिम नाक बनाकर सीना भी जानते थे । दाँत उखाड़ने के लिये एनीपद शस्त्र का वर्णन मिलता है । मोतियाबिंद (Cataract) के निकालने के लिये भी शस्त्र था । कमल-नाल का प्रयोग दूध पिलाने अथवा वमन कराने के लिये होता था, जो आजकल के Stomach Pump का कार्य देता था* ।

इसी तरह सर्प-विद्या का भी प्रचार कम नहीं था । सिकंदर का सेनापति नियाकस लिखता है कि यूनानी लोग सर्प-विष दूर करना नहीं जानते, परंतु जो मनुष्य इस दुर्घटना में पड़े, उन सबको भारतीयों ने दुरुस्त कर दिया† । दाहक्रिया और उपवास-चिकित्सा से भी भारतीय पूर्णतया परिचित थे । शोथ रोग में नमक न देने की बात भी भारतीय चिकित्सक हजार वर्ष पूर्व जानते थे ।

पशु-चिकित्सा भी कम उन्नत नहीं थी । इस विषय के भी बहुत ग्रंथ मिले हैं । पालकाप्य-कृत 'गजचिकित्सा', 'गजायुर्वेद', 'गजदर्पण' (इसका हेमाद्रि ने उल्लेख किया है), 'गजपरीक्षा', पशु-चिकित्सा बृहस्पति-रचित 'गजलक्षण', 'गोवैद्यशास्त्र', जयदत्त-कृत 'अश्वचिकित्सा', नकुल-लिखित 'शालिहोत्र शास्त्र', 'अश्वतंत्र' (इसका उल्लेख रायमुकुट ने अमरकोष की टोका में किया है), गण-रचित 'अश्वायुर्वेद' (सिद्धयोगसंग्रहः), 'अश्वलक्षण', 'हयलीलावती' (मल्लिनाथ ने इसे उद्धृत किया है) आदि के अतिरिक्त भी बहुत से अन्य ग्रंथ मिलते हैं । अधिकांश में ये ग्रंथ हमारे ही समय के हैं ।

* जो प्राचीन शल्यचिकित्सा के विषय में विशेष देखना चाहें वे नागरी-प्रचारिणी पत्रिका; भाग ८, अंक १, २ में प्रकाशित 'प्राचीन शल्यतंत्र' लेख देखें ।

† बाइज; हिस्ट्री ऑफ मेडिसिन; पृ० ६ ।

तेरहवीं सदी में पशुचिकित्सा-संबंधी एक संस्कृत ग्रंथ का फारसी में अनुवाद किया गया था। इसमें निम्न लिखित ग्यारह अध्याय हैं—

- १—घोड़ों की जाति ।
- २—उनकी सवारी और उनकी पैदाइश ।
- ३—अस्त्रबल का प्रबंध ।
- ४—घोड़ों के रंग और जातियाँ ।
- ५—उनके दोष ।
- ६—उनके अंग-प्रत्यंग ।
- ७—उनकी बीमारी और चिकित्सा ।
- ८—उनका दूषित रक्त निकालना ।
- ९—उनका भोजन ।
- १०—उनको हृष्ट पुष्ट बनाने के साधन ।
- ११—दाँतों से आयु को जानना* ।

पशु-चिकित्सा के साथ साथ पशु-विज्ञान और कुमिशाल भी अत्यंत उन्नत था। भारतीय विद्वान् पशुओं के स्वभाव, प्रकृति आदि से पूर्णतया परिचित थे। पशुओं के पशु-विज्ञान शरीर-विज्ञान को भी वे भली भाँति जानते थे। घोड़े के दाँतों को देखकर उसकी आयु का पता लगाने की प्रथा भारत में पुरानी है। सर्पों की भिन्न भिन्न जातियाँ उन्हें मालूम थीं। भविष्य पुराण से पाया जाता है कि वे वर्षा ऋतु के पूर्व संग करते हैं और अनुमान ६ मास के बाद सर्पिणी २४० अंडे देती है। बहुत से अंडे तो माता-पिता खा जाते हैं और बचे हुए अंडों से दो मास में बच्चे स्वयं निकल आते हैं। सातवें दिन वे काले हो जाते हैं और १५-२० दिन में उनके दाँत निकल आते हैं। तीन सप्ताहों में उनमें विष उत्पन्न हो जाता है, ६ मास में साँप

* हरविद्यास सारदा; हिंदू सुपीरिवीरिटी; पृष्ठ २१६-१७।

केंचुली उतारते हैं। उनकी त्वचा पर २४० संधियाँ होती हैं। डल्लासा ने सुश्रुत की टीका करते हुए लाट्यायन का उद्धरण देकर लिखा है कि वह कृमियों और सरीसृपों (रेंगनेवाले जंतुओं) के विषय में प्रामाणिक विद्वान् है। उसने कृमियों के भिन्न भिन्न अंगों पर भी विचार किया है*।

हमारे समय के आसपास का जैन पंडित हंसदेव का लिखा हुआ 'मृगपक्षिशाल' भी अपने विषय का बहुत उपयोगी और प्रामाणिक ग्रंथ है। उसमें सिंहों का वर्णन करते हुए उनके ६ भेद—सिंह, मृगेंद्र, पंचास्य, हर्यक्ष, केसरी और हरि—बताकर उनकी विशेषताएँ बताई हैं। सिंह का वर्णन करते हुए लिखा है कि सिंह के लंबी पूँछ और गर्दन पर घने बाल होते हैं, जो कद के छोटे, सुनहरे वर्णवाले और पीछे की ओर कुछ सफेद होते हैं। बदन पर सर्वत्र कोमल बाल रहते हैं। सिंह बदन के बड़े मजबूत और भागने में तीर से तेज होते हैं। भूख लगने पर अत्यंत भयंकर और यावन काल में विशेष कामुक होते हैं। वे प्रायः गुफाओं में रहते और प्रसन्न होने पर पूँछ हिलाया करते हैं। इसी तरह अन्य भी शेर के भेदों का विस्तृत वर्णन करने के बाद शेरती का वर्णन किया गया है। उसके गर्भ, गर्भकाल, स्वभाव आदि पर भी उक्त ग्रंथ में बहुत प्रकाश डाला गया है।

शेर के वर्णन के अनंतर ग्रंथकर्त्ता हंसदेव ने व्याघ्र, जरख, भालू, गेंडे, हाथी, घोड़े, ऊँट, गधे, गाय, बैल, भैंस, बकरी, हरिण, गीदड़, बंदर, चूहा आदि अनेक पशुओं और गरुड़, ईंस, बाज, गिद्ध, सारस, कौआ, उल्लू, तोता, कोयल आदि नाना पक्षियों का विस्तृत विवरण दिया है, जिसमें उनकी किस्में, वर्ण, युवाकाल, संभोग

योग्य अवस्था, गर्भकाल, उनकी प्रकृति, जाति, आयु तथा उनके भोजन, निवास संबंधी विषयों पर विशेष प्रकाश डाला गया है। हाथी का भोजन गन्ना बतलाया है। हाथी की उम्र सब से बड़ी १०० वर्ष बतलाई गई है और चूहे की कम से कम डेढ़ वर्ष* ।

भारतीयों ने ही सब से पहले औषधालय और चिकित्सालय बनाने प्रारंभ किए थे। फाहियान (ई० स० ४००) ने पाटलिपुत्र

के एक औषधालय का वर्णन करते हुए लिखा है कि यहाँ सब गरीब और असहाय रोगी आकर इलाज कराते हैं; उन्हें आवश्यकतानुसार औषध दिया जाता है। उनके आराम का पूरा खयाल रखा जाता है। यूरोप में सब से पहला औषधालय, विसेंट स्मिथ के कथनानुसार, दसवीं सदी में बना था। हुएन्त्संग ने भी तच्चशिला, मतिपुर, मथुरा और मुल्तान आदि की पुण्यशालाओं के नाम दिए हैं, जिनमें गरीबों और विधवाओं को मुफ्त औषध, भोजन और वस्त्र दिए जाते थे† ।

वर्तमान युरोपियन चिकित्सा-शास्त्र का आधार भी आयुर्वेद है। लार्ड एंपथिल ने एक भाषण में कहा था कि मुझे यह निश्चय है कि आयुर्वेद भारत से अरब में और वहाँ से यूरोप में

भारतीय आयुर्वेद का युरोपीय चिकित्सा पर प्रभाव गया‡; अरब का चिकित्सा-शास्त्र संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद पर निर्भर था। खलोफाओं ने कई संस्कृत ग्रंथों का अरबी में अनुवाद कराया।

भारतीय चिकित्सक चरक का नाम लैटिन में परिवर्तित होकर अब भी विद्यमान है§ । नोशेर्वा का समकालीन बर्जोखेह (Barzouhyeh)

० यह पुस्तक अभी प्राप्त हुई है और पंडित जी० धिजपराधवाचार्य जी पुरातत्त्वज्ञ, तिरुपति (मद्रास) से मिल सकती है।

† नागरीप्रचारिणी पत्रिका; भाग ८, पृ० १६-२०।

‡ हरविद्यास सारदा; 'हिंदू सुपीरिवैरिटी'; पृ० २५८

§ वही; पृ० २५६।

भारत में विज्ञान सीखने के लिये आया था* । प्रो० साचू के कथनानुसार अलबेरूनी के पास वैद्यक और ज्योतिष विषयक संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद विद्यमान थे । अल्मनसूर ने आठवीं सदी में भारत के कई वैद्यक ग्रंथों का अरबी में अनुवाद कराया । प्राचीन अरब-लेखक सैरेपियन ने चरक को प्रामाणिक वैद्य मानते हुए उसका वर्णन किया है† । हारूँरशीद ने कई भारतीय वैद्यों को अपने यहाँ बुलाया था । अरब से ही यूरोप में आयुर्वेद गया, यह निश्चित है । इस तरह भारतीय आयुर्वेद का यूरोप पर बहुत प्रभाव पड़ा ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि हमारे समय में आयुर्वेद सब प्रकार से बहुत उन्नत था । नीचे कुछ विद्वानों की सम्मतियाँ उद्धृत की जाती हैं । लार्ड एंप्थिल ने एक भाषण में कहा था—हिंदुओं के कानून बनानेवाले मनु संसार के सबसे बड़े स्वच्छता के सुधारकों में से एक थे । सर विलियम हंटर लिखते हैं कि भारतीय औषधिशास्त्र शस्त्र-विज्ञान के सारे क्षेत्र का वर्णन करता है । इसमें शरीर की बनावट का वर्णन है, भीतरी अवयवों, मांसपेशियों, पुट्टी, धमनियों और नाड़ियों का भी विवरण है । हिंदुओं के निषंदु में खनिज, जांतव (Organic) एवं वनस्पतिज औषधियों का बहुत विशद वर्णन मिलता है । उनकी औषधि-निर्माण-विद्या के तरीके कामिल और ठेठ के हैं, जिनमें औषधियों के वर्गीकरण आदि का बहुत सुंदर वर्णन है । स्वच्छता और पश्यापशय पर भी इसमें विचार किया गया है । प्राचीन भारतीय अंगच्छेद करते थे, रुधिर-स्राव को रोक सकते थे और पथरी निकालते थे । अंत्रवृद्धि (Hernia), भगंदर, नाड़ी-व्रण एवं अर्श को बँटोक कर देते थे । वे मूढ-गर्भ एवं स्त्रियों के रोगों के सूक्ष्म से सूक्ष्म आपरेशन करते

* हिस्ट्री ऑफ हिंदू कैमिस्ट्री; भूमिशा भाग, पृ० ७६ ।

† रैम्बे; एंरयेंड हिंदू मेडिसिन; पृष्ठ ३८ ।

थे* । डाक्टर सील लिखते हैं कि विशार्थियों को शिक्षा देने के लिये शवच्छेद होता था, तथा गर्भ-विमोचन और मूढ-गर्भ के आप-रेशन भी होते थे । श्रीयुत वेबर भारतीय शल्य-चिकित्सा की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—‘आज भी पाश्चात्य विद्वान् भारतीय शल्य-चिकित्सा से बहुत कुछ सीख सकते हैं, जैसे कि उन्होंने कटी हुई नाक को जोड़ने की विधि भारतीयों से सीखी† ।

कामशास्त्र

भारत में जहाँ भौतिक और दार्शनिक विज्ञान इतने अधिक उन्नत थे, वहाँ कामशास्त्र का भी वैज्ञानिक दृष्टि से पर्याप्त विकास हो चुका था । चतुर्वर्ग में धर्म अर्थ काम और मोक्ष माने गए हैं । धर्म के संबंध में ऊपर कुछ लिखा जा चुका है । कामशास्त्र पर उपलब्ध ग्रंथों में सबसे प्राचीन वात्स्यायन-प्रणीत ‘कामसूत्र’ है । वात्स्यायन ने इस शास्त्र या इसके किसी अंग के अपने से पूर्व के प्रणेताओं के नाम दिए हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—औदालकि (उदालक का पुत्र) श्वेतकेतु, वाभ्रव्य (पांचाल), दत्तक, सुवर्णनाभ, घोटकमुख, गोनर्दीय, कुचुमार आदि । इन सबके ग्रंथों का सार लेकर वात्स्यायन ने हमारे समय से पूर्व कामसूत्र लिखा । इसमें योग्य, अयोग्य स्त्री का निर्णय, स्त्री पुरुषों के विशेष भेद, रताव-स्थापन तथा रति को उत्पन्न करने और स्थिर रखने के उपाय बताए गए हैं । पुरुष-स्वभाव से अपरिचित कन्याओं को मनुष्य किन किन उपचारों और व्यवहारों से अपने अनुकूल बनावे इसका विशद वर्णन मिलता है । पति के प्रति स्त्री के कर्तव्यों तथा गृहस्थ के

* इंडियन मैजिस्ट्रियर इंडिया; पृ० २२० ।

† वेबर; इंडियन लिटरेचर, पृ० २७० ।

योग्य सभी कार्यों का वर्णन एवं उनके रहन सहन और वार्तालाप पर भी प्रकाश डाला गया है ।

कामसूत्र में रज और वीर्य का भी वैज्ञानिक विवेचन किया गया है । संसार की स्थिति का परिचय कराने के लिये पारदारिक, वैशिक और औपरिष्टिक प्रकरण लिखे गए हैं । इस वर्णन से यह पता लगता है कि हमारे यहाँ प्राचीन समय में कामशास्त्र कितना विकसित, उन्नत और वैज्ञानिक था ।

इस ग्रंथ के बाद इस विषय पर कई और पुस्तकें लिखी गईं । हमारे समय के पिछले भाग में ककोक (कोका पंडित) नामक विद्वान् ने 'रतिरहस्य' लिखा । आजकल के हिंदी 'कोकशास्त्र' इसी कोका पंडित के नाम से प्रसिद्ध हैं । इनके अतिरिक्त करनाटक के राजा नरसिंह के समकालीन ज्योतिरीश्वर ने 'पंचसायक' लिखा । बौद्ध पद्मश्रो का लिखा हुआ 'नागरसर्वस्व' भी इस विषय का अच्छा ग्रंथ है । हमारे समय के बाद भी इस विषय की बहुत सी पुस्तकें लिखी गईं, जिनका उल्लेख हमने नहीं किया ।

संगीत

प्राचीन काल से ही भारतवर्ष ने संगीत शास्त्र में भी बहुत उन्नति की । संगीत में गान, वाद्य और नृत्य का समावेश होता था ।

संगीत साहित्य सामवेद का एक भाग गान है, जो सामगान के नाम से प्रसिद्ध है । वैदिक यज्ञों में प्रसंग प्रसंग पर सामगान होता था । हमारे निर्दिष्ट समय से पूर्व के बहुत से संगीत के विद्वानों—सदाशिव, शिव, ब्रह्मा, भरत, कश्यप, मतंग, याष्टिक, दुर्गा, शक्ति, नारद, तुंबहु, विशाखिल, रंभा, रावण, चेत्र-राज आदि—के नाम 'संगीत-रत्नाकर' में शार्ङ्गदेव ने उद्धृत किए

हैं। वे संगीत के पुराने आचार्य माने गए हैं। अपने समय से पूर्व का यह परिचय देने से हम जान सकेंगे कि हमारे निर्दिष्ट समय तक संगीत का बहुत कुछ विकास हो चुका था।

हमारे निर्दिष्ट काल में भी संगीत पर बहुत से ग्रंथ लिखे गए, जो आज उपलब्ध नहीं हैं, परंतु उनका पता संगीताचार्य शार्ङ्गदेव के 'संगीतरत्नाकर' से लगता है। वह उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त हमारे काल के रुद्रट (८५० ई०), नान्यदेव (१०८६ ई०), राजा भोज (११ वीं शताब्दी), परमर्दी (चंदेल, ११६७ ई०), सोमेश (११७० ई०), जगदेकमल्ल (११३८ ई०), लोल्लट, उद्भट (८०० ई०), शंकुक, अभिनवगुप्त (८८३ ई०) और कीर्तिधर तथा दूसरे संगीताचार्यों का भी उल्लेख करता है। 'संगीतरत्नाकर' देवगिरि के यादव राजा सिंघण के, जिसका राज्याभिषेक ई० स० १२०७ में हुआ था, दरबार के गायनाचार्य शार्ङ्गदेव ने लिखा था अतएव वह हमारे काल की संगीत की स्थिति का बोधक है। उसमें शुद्ध सात और विकृत बारह स्वर, वाद्यों के चार भेद, स्वरों की श्रुति और जाति, ग्राम, मूर्छना, प्रस्तार, राग, गायन, गीत के गुण दोष, ताल, नर्तन और इस समय तक प्रचलित वाद्यों के नाम आदि संगीत-संबंधी अनेक ज्ञातव्य एवं उपयोगी बातों का वर्णन किया गया है, जिनसे हमारे निर्दिष्ट समय के संगीत-ज्ञान की उन्नत अवस्था का पता चलता है।

संगीत के तीसरे अंश नृत्य का भी वैज्ञानिक पद्धति पर पूर्ण विकास हो चुका था। अष्टाध्यायीकार पाणिनि (६०० ई० पूर्व) के समय में भी शिलाली और कुशाश्व के नट-सूत्र

नृत्य

विद्यमान थे। भरत का नाट्यशास्त्र प्रसिद्ध है। उसके अतिरिक्त दंतिल, कोहिल आदि के नाट्य-नियमों के ग्रंथ मिलते हैं। नाट्यशास्त्र के आधार पर भास, कालिदास, भवभूति आदि

अनेक कवियों के सैकड़ों नाटकों की रचना हुई। शिवजी का उद्धत नृत्य 'तांडव' और पार्वती आदि का सुकुमार नृत्य 'लास्य' कहलाया।

राजनीति

राजनीति शास्त्र पर भी कई प्राचीन ग्रंथ मिले हैं। इसे नीति-शास्त्र या दंडनीति कहा जाता था। अर्थशास्त्र भी पहले नीति-शास्त्र के लिये प्रयुक्त होता था। हमारे यहाँ अर्थशास्त्र का भी बहुत विकास हो चुका था। 'महाभारत' का शांतिपर्व राजनीति का एक उत्कृष्ट प्रामाणिक ग्रंथ कहा जा सकता है। इस विषय पर सबसे अधिक प्राचीन और अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ, जिसे प्रकाशित हुए अभी १५ वर्ष से अधिक नहीं हुए, कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। इसके प्रकाशित होते ही भारतीय इतिहास में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। हमारे समय से बहुत पूर्व का होने के कारण हम इस पर विचार नहीं करते। हमारे समय के आसपास कामंदक ने 'नीतिसार' नामक छंदोवद्ध ग्रंथ लिखा। कामंदक ने कौटिल्य को गुरु माना है। दसवीं सदी में सोमदेव सूरि ने 'नीतिवाक्यामृत' नामक एक अत्यंत उत्कृष्ट ग्रंथ की रचना की। हेमचंद्र ने 'लघुअर्धन नीतिशास्त्र' नाम से राजनीति पर एक छोटा सा ग्रंथ लिखा। नीति विषयक इन ग्रंथों में राष्ट्र, राष्ट्र की उत्पत्ति के मात्स्यन्याय आदि भिन्न भिन्न सिद्धांत, राज्य के सात अंग—स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दंड और मित्र—तथा राजा के कर्तव्य और अधिकार, संधि और युद्ध आदि अनेक ज्ञातव्य एवं उपयोगी प्रश्नों पर विचार किया गया है।

इन ग्रंथों के अतिरिक्त साहित्य के बहुत से ग्रंथों में राजनीति के उत्तम सिद्धांत दिए गए हैं, जिनमें से 'दशकुमार-चरित', 'किरा-तार्जुनीय', 'मुद्राराक्षस' आदि मुख्य हैं।



(१७) शिव का तांडव नृत्य
[मद्रास म्यूजियम्]



कानूनी साहित्य

काव्य, दर्शन, कला-कौशल-संबंधी साहित्य के विकास के अतिरिक्त राजनीति और नियम (कानून, धर्म) विषयक साहित्य भी बहुत उन्नत था। राजनीतिक दृष्टि से भारत को पर्याप्त उन्नत देखते हुए कानूनी साहित्य का विकास स्वाभाविक जान पड़ता है। भारत की राजनीतिक उन्नति पर आगे चलकर विचार करेंगे।

धर्म शब्द बहुत व्यापक है। अंगरेजी के 'रिलिजियन' और 'ला' (Religion and law) दोनों इसके अंतर्गत हैं। धर्मशास्त्रों में धार्मिक नियम ही नहीं, किंतु राजनीतिक और सामाजिक नियम भी विस्तारपूर्वक लिखे हुए हैं। हमारे निर्दिष्ट समय से पूर्व आप-स्तम्ब और वैशम्पयन के सूत्र लिखे जा चुके थे। इसी तरह गौतम और वशिष्ठ के सूत्र भी बन चुके थे। प्राचीन ग्रंथों में से मनुस्मृति के समान किसी ग्रंथ का सम्मान और प्रचार नहीं हुआ। इस पर कई टोकाएँ भी लिखी गईं। हमारे समय की टोकाओं में मेधातिथि (नववीं शताब्दी) और गोविंदराज (ग्यारहवीं सदी) की टोकाएँ प्रसिद्ध हैं। इस स्मृति का प्रचार भारत में ही नहीं प्रत्युत बर्मा, जावा और बालि द्वीप में भी हुआ था। हमारे समय के आसपास याज्ञवल्क्य स्मृति बनी। इसमें मनु की अपेक्षा अधिक उन्नत पद्धति मिलती है। इसमें तीन विभाग—आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय और प्रायश्चित्ताध्याय—हैं। आचाराध्याय में वर्णाश्रम धर्म, भक्ष्याभक्ष्य विचार, दान, शुद्धि, ग्रहशान्ति, राजधर्म आदि बातों पर विचार किया गया है। व्यवहाराध्याय में कानून-संबंधी सभी बातों का विस्तृत विवेचन है। इसमें न्यायालय और उसके नियम, अभियोग, गवाही, सफाई, श्राव्य का लेन देन, व्याज, चक्रवृद्धि व्याज, तमस्सुक आदि, दिव्यसाक्षि, उत्तराधिकार-संबंधी प्रश्न, स्त्री के संपत्ति-संबंधी अधिकार, सीमाविवाद-संबंधी निर्णय, स्वामी और सेवकों तथा जमींदारों और

किसानों के पारस्परिक विवाद, वेतन, श्रूत, कठोर वचन कहने, कठोर दंड देने, चोरी, व्यभिचार तथा अन्य प्रकार के अपराध करने पर दंड और सह कारी संघों के नियम तथा कर आदि का अच्छा तरह से विवेचन किया गया है। प्रायश्चित्ताध्याय में सामाजिक नियमों पर विचार किया गया है। इस उत्तम ग्रंथ की टीका विज्ञानेश्वर (ग्यारहवीं सदी) ने 'मिताक्षरा' नाम से की। मिताक्षरा को उसकी टीका कहने की अपेक्षा उसके आधार पर एक स्वतंत्र ग्रंथ कहना अधिक अच्छा होगा। विज्ञानेश्वर ने प्रत्येक बात पर बहुत विचार किया है। स्थल पर उसने हारीत, शंख, देवल, विष्णु, वसिष्ठ, यम, व्यास, बृहस्पति, पराशर आदि अनेक स्मृतिकारों के भी प्रमाण उद्धृत किए हैं। इनमें से कुछ स्मृतियाँ हमारे समय में बनीं। लक्ष्मीधर ने बारहवीं शताब्दी में 'स्मृतिकल्पतरु' नामक एक ग्रंथ लिखा। ये स्मृतियाँ धर्मस्मृतियों का भी काम देती थीं। पिछली स्मृतियों में छूत-छात आदि को प्राधान्य दिया जाने लगा था।

अर्थशास्त्र

वार्ता (Economics) की भी, जिसे आजकल अर्थशास्त्र कहते हैं, पहले कम उन्नति नहीं हुई थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसके लिये वार्ता नाम मिलता है। युरोप के वर्तमान अर्थशास्त्र में उत्पत्ति (Production), विनिमय (Exchange), वितरण (Distribution), और व्यय (Consumption) मुख्य विषय हैं, परंतु पहले केवल उत्पत्ति ही मुख्यतः अर्थशास्त्र समझा जाता था। वार्ता में भी उत्पत्ति को मुख्यता दी जाती थी। कृषि, शिल्प, व्यवसाय और पशुपालन प्राचीन वार्ता के मुख्य अंग थे। व्यापार और कुसीद (Money lending) की भी उपेक्षा नहीं की जाती थी। वार्ता शास्त्र के नाम से हमें कोई

ग्रंथ नहीं मिलता, इससे यह अभिप्राय नहीं है कि इस विषय का कोई ग्रंथ था ही नहीं। आन्वीक्षिकी, त्रयी और दंडनीति के नाम से भी कोई ग्रंथ नहीं मिलते, परंतु इनके विषयों पर भिन्न भिन्न ग्रंथ पाए जाते हैं। इसी तरह वार्ता या अर्थशास्त्र के संबंध में भी उसकी भिन्न भिन्न शाखाओं पर अनेक ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। कृषि के संबंध में 'पादपविवक्षा', 'वृक्षदोहद', 'वृक्षायुर्वेद', 'शस्यानंद', 'कृषिपद्धति' और 'कृषिसंग्रह' आदि ग्रंथ मिलते हैं। भवननिर्माण शास्त्र तथा शिल्प पर 'वास्तुसौख्य', अपराजित 'वास्तुशास्त्र', 'प्रासादानुकीर्तन', 'चक्रशास्त्र', 'चित्रपट', 'जलार्मल', 'पश्चिमनुष्यालयलक्षण', 'रथ-लक्षण', 'विमानविद्या', 'विमानलक्षण' (ये दोनों ध्यान देने योग्य हैं), 'विश्वकर्मीय', 'कौतुकलक्षण', 'मूर्तिलक्षण', 'प्रतिमाद्रव्यादिवचन', 'सकलाधिकार', सारस्वतीय 'शिल्पशास्त्र', 'विश्वविद्याभरण', 'विश्व-कर्मप्रकाश' और 'समरांगणसूत्रधार' (इसके विषय में ऊपर लिखा जा चुका है) के अतिरिक्त 'मयशिल्प' और 'विश्वकर्मीय शिल्प' ग्रंथ मिलते हैं। मयशिल्प में शिल्प के लक्षण, भूमिपरीक्षा, भूमिमापन, दिशानिर्णय, ग्राम और नगर का विस्तार, भवनों के भिन्न भिन्न अंग, दुमंजिले तिमंजिले मकान, द्वार आदि, और विश्वकर्मीय शिल्प में मंदिरों, भिन्न भिन्न मूर्तियों तथा इनके आभूषणों आदि पर विचार किया गया है। इन ग्रंथों में से बहुतों के समय अज्ञात या अनिश्चित हैं, परंतु संभवतः इनमें से अनेक हमारे समय के बने हुए होंगे।

रत्नपरीक्षा पर भी भिन्न भिन्न ग्रंथ मिलते हैं, जिनमें से 'रत्नादि-परीक्षा', 'रत्न-परीक्षा', 'मणि-परीक्षा', 'ज्ञानरत्नकोष', 'रत्नदोषिका' और 'रत्नमाला' आदि ग्रंथ मुख्य हैं। धातु-विज्ञान (Metallurgy) भी कम उन्नत नहीं था। इस विषय पर भी कुछ ग्रंथ मिलते हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—'लोहरत्नाकर', 'लोहार्यव' और 'लोहशास्त्र'। भूमि-मापन (Survey) के संबंध में भी एक ग्रंथ 'क्षेत्राणित-

शास्त्र' मिलता है। नौ-निर्माण (Ship-building) पर भी 'नौशास्त्र' आदि ग्रंथ मिलते हैं। व्यापार के संबंध में द्रविड़ भाषा में 'वैश्यारपेरुमई' ग्रंथ मिलता है, जिसमें व्यापार-विषयक बहुत सी उपयोगी बातों का विवेचन किया गया है।

प्राकृत

पहले कहा जा चुका है कि संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत भाषा का हमारे निर्दिष्ट समय में बहुत प्रचार था। इसके भी विद्वानों का राज-दरबारों में समुचित सम्मान होता था। अब यहाँ संक्षेप में प्राकृत साहित्य पर विचार करेंगे।

प्राकृत भाषा का साहित्य हमारे निर्दिष्ट समय से पूर्व भी बहुत उन्नति की अवस्था तक पहुँच चुका था। प्राकृत भाषा कई शाखाओं में विभक्त है। ये विभाग प्रायः देश-भेद या काल-भेद से हुए थे। महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेश

प्राकृत साहित्य
का विकास

लौकिक अर्थात् उस समय की प्रचलित भाषा में दिए थे, जिसको पुरानी प्राकृत कहना चाहिए। यह भाषा बहुधा संस्कृत का कुछ बिगड़ा हुआ रूप ही थी, जिसे संस्कृत न जाननेवाले लोग बोला करते थे। कई एक विद्वान् उसे पाली भाषा भी कहते हैं और लंका, वर्मा, स्याम आदि देशों के हीनयान बौद्धों के धर्मग्रंथ इसी भाषा में लिखे गए। इसका सब से प्राचीन व्याकरण कच्चायन (कात्यायन) नामक विद्वान् ने बनाया था। अशोक की धर्माज्ञाएँ भी उस समय की प्रचलित प्राकृत भाषा में लिखी गई थीं। संभव है, उनकी मूल प्रतियाँ उस समय की राजकीय भाषा में लिखी गई हों, परंतु उसके राज्य के भिन्न भिन्न विभागों में भेजे जाने पर वहाँ के अधिकारियों ने अपने अपने प्रदेश के लोगों के ठीक ठीक समझने के लिये शब्दों में

कहीं कहीं परिवर्तन कर उन्हें भिन्न भिन्न स्थानों में, कहीं कहीं पर्वतीय चट्टानों, स्तंभों आदि पर खुदवाया। अशोक के समय तक भी प्राकृत भाषा का संस्कृत के साथ निकट का संबंध था। पीछे से उन भाषाओं के विकास के साथ उनमें परस्पर अंतर बढ़ता गया, जिससे देश-भेद के अनुसार उनके अलग अलग नाम स्थिर किए गए, जो ये हैं—
मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पेशाची, आर्वांतिक और अपभ्रंश।

मागधी मगध और उसके आसपास के प्रदेशों की जनता की भाषा थी। प्राचीन मागधी अशोक के लेखों में मिलती है। उसके

मागधी पीछे की मागधी का कोई ग्रंथ अब तक उपलब्ध नहीं हुआ। साधारणतः संस्कृत के नाटकों में छोटे दर्जे के सेवक, धोवर, सिपाही, विदेशी, जैनसाधु और बच्चों आदि से यह भाषा बुलाई जाती है। 'अभिज्ञान शाकुंतल', 'प्रबोधचंद्रोदय', 'वेणीसंहार' और 'ललितविग्रहराज' आदि में प्रसंगवशात् यह भाषा मिलती है। इस भाषा में भी पीछे से कुछ भेद हो गए, जिनमें मुख्य अर्धमागधी है, जो मागधी और शौरसेनी का मिश्रण होने से ही अर्धमागधी कहलाई। जैनों के आगम नामक धर्म ग्रंथ इसी अर्धमागधी में मिलते हैं। 'पद्मचरित' नामक पुराना जैनकाव्य इसी भाषा में लिखा गया है। राजा उदयन की कथा भी इसी भाषा में है।

शौरसेनी प्राकृत शूरसेन अथवा मथुरा प्रदेश के आसपास की भाषा थी, और संस्कृत नाटकों में स्त्रियों तथा विदूषकों के संभाषण

शौरसेनी में (गद्य) 'रत्नावली', 'अभिज्ञान शाकुंतल' और 'मृच्छकटिक' आदि में उसका प्रयोग मिलता है। इस भाषा का कोई स्वतंत्र नाटक नहीं मिलता। दिगंबर जैनों का बहुत कुछ साहित्य इस भाषा में मिलता है, जिसमें मुख्य ग्रंथ 'पद्मचरित' और 'कण्ठिकेयानुपेक्षा' आदि हैं।

महाराष्ट्री प्राकृत का नाम महाराष्ट्र देश से पड़ा । इस भाषा का उपयोग विशेष कर प्राकृत काव्यों के लिये होता था । हाल की महाराष्ट्री 'सतसई' (सप्तशती), प्रवरसेनकृत 'रावणवहो' (सेतुबंध), वाक्पतिराज का 'गौड़वहो' तथा हेमचंद्र का 'प्राकृतद्वयाश्रय' आदि काव्य तथा 'वज्रालम्ब' नामक प्राकृत का सुभाषित ग्रंथ इसी भाषा में लिखे गए हैं । राजशेखर की 'कर्पूर-मंजरी' में, जो विशुद्ध प्राकृत का सट्टक है, हरिउद्ध (हरिवृद्ध) और नंदिउद्ध (नंदिवृद्ध), पौतिष आदि प्राकृत लेखकों के नाम मिलते हैं, परंतु उनके ग्रंथों का पता नहीं चला । महाराज भोज-रचित 'कूर्मशतक' तथा दूसरा 'कूर्मशतक', जिसके कर्ता का नाम मालूम नहीं हुआ और जो दोनों शिलाओं पर खुदे हुए धार में भोज की बनवाई हुई 'सरस्वती-कंठाभरण' नामक पाठशाला से मिले हैं, महाराष्ट्री में हैं । महाराष्ट्री का एक भेद जैन महाराष्ट्री है, जिसमें श्वेतांबरों की कथा, जीवन-चरित आदि के संबंध में ग्रंथ मिलते हैं । जोधपुर राज्य के वटियाला गाँव से मिला हुआ मंडोर के प्रतिहार राजा कक्कुका का ई० स० ८६१ का शिलालेख भी इसी भाषा में लिखा गया है ।

पैशाची भाषा काश्मीर तथा भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर विभाग की लौकिक भाषा थी । इसका प्रसिद्ध ग्रंथ गुणाध्व की 'बृहत्-कथा' है, जो अब तक उपलब्ध नहीं हुआ । पैशाची संस्कृत में उसके दो कवितावद्ध संचिप्त अनु-वाद काश्मीर में हुए, जो चेमेंद्र और सोमदेव-द्वारा किए गए थे ।

आवंतिक भाषा अवंती देश अर्थात् मालवा की थी । इसकी चूलिका-पैशाची या भूतभाषा भी कहते थे, आवंटिक जिसका प्रयोग 'मृच्छ-कटिक' आदि में पाया जाता है । राजशेखर एक प्राचीन श्लोक उद्धृत करता है, जिसमें

भूतभाषा (चूलिका-पैशाची) के अवन्ती (उज्जैन), पारियात्र (बेतवा और चंबल का निकास) और दशपुर (मंदसौर) में प्रचार होने का उल्लेख है* । ईसवी सन् पूर्व की दूसरी शताब्दी के आसपास पंजाब में रहनेवाली मालव नाम की जाति ने राजपूताना में होते हुए अवन्ती देश पर अपना राज्य स्थिर किया, जिससे उस देश का नाम मालव प्रसिद्ध हुआ । संभव है, पैशाची भाषा बोलनेवाले मालव लोगों की भाषा का प्रवेश उस देश में हुआ हो और समय के साथ उसमें कुछ परिवर्तन होने के कारण उसका नाम चूलिका-पैशाची रखा गया हो । इसको पैशाची का एक भेद ही कहना चाहिए ।

अपभ्रंश भाषा का प्रचार लाट (गुजरात में), सुराष्ट्र, त्रवण (मारवाड़ में), दक्षिणी पंजाब, राजपूताना, अवन्ती, मंदसौर आदि में था । वस्तुतः अपभ्रंश किसी एक देश की

अपभ्रंश

भाषा नहीं, किंतु ऊपर लिखी हुई भाषाओं के अपभ्रंश या बिगड़े हुए रूप-आदि भिन्न भिन्न प्राकृत भाषाओं के अपभ्रंश या बिगड़े हुए रूप-वाली मिश्रित भाषा का नाम है । उसका प्रायः भारत के दूर दूर के विद्वान् प्रयोग करते थे । राजपूताना, मालवा, काठियावाड़ और कच्छ आदि के चारणों तथा भाटों के ढिंगल भाषा के गीत इसी भाषा के पिछले विकृत रूप में हैं । पुरानी हिंदी भी अधिकांश इसी से निकली है । इस भाषा का साहित्य बहुत विस्तृत मिलता है, जो बहुधा कविताबद्ध है । इसमें दोहा छंद प्रधान है । इस भाषा का सबसे बृहत् और प्रसिद्ध ग्रंथ 'भविष्यत्कथा' है, जिसे धनपाल ने दसवीं सदी में लिखा । महेश्वरसूरि-कृत 'संजममंजरी' पुष्पदंत (पुष्पदंत) विरचित 'तिसट्टिमहापुरिसुगुणालंकार', नयनंदी निर्मित 'आराधना', योगीन्द्रदेव-लिखित 'परमात्मप्रकाश', हरिभद्र का 'नेमिनाहचरित', बरदत्त-रचित 'वैरसामिचरित', 'अंतरंगसंधि', 'सुलसा-

खायन', 'भवियकुटुंबचरित्र', 'संदेशशतक' और 'भावनासंधि' आदि भी इसी भाषा के ग्रंथ हैं* । इनके अतिरिक्त भिन्न भिन्न ग्रंथों— सोमप्रभ का 'कुमारपालप्रबोध', रत्नमंदिरमणि की 'उपदेशतरंगिणी', लक्ष्मणगारी-कृत 'सुपासनाहचरियम्', 'दोहाकोष', कालिदास का 'विक्रमोर्वशीय' (चतुर्थ अंक), हेमचंद्र-लिखित 'कुमारपालचरित', (प्राकृत द्वाश्रयकाव्य), 'कालकाचार्यकहा' और 'प्रबंधचिंतामणि' आदि—में स्थल स्थल पर अपभ्रंश का प्रयोग किया गया है । हेमचंद्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश को जो १७५ उदाहरण दिए हैं, वे भी अपभ्रंश साहित्य के उत्कृष्ट नमूने हैं । उनसे मालूम पड़ता है कि अपभ्रंश साहित्य बहुत विस्तृत और उन्नत था । उन उदाहरणों में शृंगार, वीरता, रामायण और महाभारत के अंश, हिंदू और जैन धर्म तथा हास्य के नमूने मिलते हैं । इस भाषा के साहित्य में प्रायः जैनियों ने बहुत परिश्रम किया ।

प्राकृत भाषा की उन्नति के साथ उसके व्याकरण का भी उन्नत होना आवश्यक था । हमारे समय से कुछ पूर्व वररुचि ने 'प्राकृत-
प्राकृत व्याकरण' नामक प्राकृत भाषा का व्याकरण लिखा है । उसमें लेखक ने महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी के नियमों का वर्णन किया है । लंकेश्वर-कृत 'प्राकृतकामधेनु', मार्कंडेय-कृत 'प्राकृतसर्वस्व' और चंडकृत 'प्राकृतलक्षण' आदि भी प्राकृत व्याकरण के उत्तम ग्रंथ हैं । प्रसिद्ध विद्वान् हेमचंद्र ने संस्कृत व्याकरण 'सिद्धहेमचंद्रानुशासन' लिखते हुए उसके अंत में प्राकृत व्याकरण लिखा । उसमें 'सिद्धांत-कौमुदी' की तरह विषय-विभाग से सूत्रों का क्रम है । हेमचंद्र ने पहले महाराष्ट्री के नियम लिखे । आगे शौरसेनी के विशेष

* भविस्यत्कहा; भूमिका; पृ० ३६-४६ (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज में प्रकाशित संस्करण) ।

नियम लिखकर लिखा कि 'शेषं प्राकृतवत्'। फिर मागधी के विशेष नियम लिखकर लिखा—'शेषं शौरसेनीवत्'। इसी तरह पैंशाची, चूलिका-पैंशाची और अपभ्रंश के विशेष नियम लिखे तथा अंत में सब प्राकृतों को लक्ष्य में रखकर लिखा कि 'शेषं संस्कृतवत्सिद्धम्'। संस्कृत और दूसरी प्राकृतों के व्याकरण में तो उसने अपनी वृत्ति में उदाहरणों की तरह प्रायः वाक्य या पद दिए हैं, किंतु अपभ्रंश के अंश में उसने बहुधा पूरी गाथाएँ, पूरे छंद और अवतरण दिए हैं।

प्राकृत भाषा के कई कोष भी लिखे गए। धनपाल ने ६७२ ई० में 'पाड्यलच्छोनाममाला' लिखा। अबन्तिसुंदरी (राजशेखर की

स्त्रा) ने प्राकृत कविता में आनेवाले देशी शब्दों
प्राकृत-कोष का कोष बनाया था और उसमें प्रत्येक शब्द के

प्रयोग के स्वरचित उदाहरण दिए थे। यह कोष अब उपलब्ध नहीं है। हेमचंद्र ने अपने कोष में उसका मत भी उद्धृत किया है। हेमचंद्र ने भी प्रांतीय भाषाओं के संग्रह का 'देशीनाममाला' नामक ग्रंथ लिखा। कवितावद्ध होने के अतिरिक्त उसके शब्द अकारादि क्रम से रखे गए हैं और उनमें भी पहले दो दो अक्षरों के, फिर तीन तीन के, तदनंतर चार चार अक्षरों के शब्द दिए हैं। यह देशी भाषा के अध्ययन के लिये बहुत उपयोगी कोष है। पाली का भी एक कोष मौगलायन ने 'अभिधानपदीपिका' नाम से १२०० ई० के करीब लिखा, जिसमें अमरकोष की शैली का अनुकरण किया गया है।

दक्षिण भारत की भाषाएँ

उत्तर भारत की भाषाओं के साहित्य का विवेचन करने के बाद दक्षिण भारत की द्रविड़ भाषाओं का वर्णन करना भी आवश्यक है। द्रविड़ भाषाओं के साहित्य में हमें विस्तृत सामग्री नहीं मिलती, इसलिये हम बहुत संक्षेप से इन पर विचार करेंगे।

दक्षिण भारत की द्रविड़ भाषाओं में सबसे मुख्य और प्रथम तामिल भाषा है। यह तामिल प्रदेश में बोली जाती है। इसकी प्राचीनता के विषय में कुछ निश्चित रूप से तामिल नहीं कहा जा सकता। इसका सबसे प्राचीन व्याकरण 'तालकाप्पियम' है, जिसका कर्ता प्रचलित दंतकथाओं के आधार पर ऋषि अगस्त्य का शिष्य माना जाता है। इसके पढ़ने से मालूम होता है कि तामिल साहित्य का भी विस्तृत इतिहास था। इस भाषा का सब से प्राचीन ग्रंथ 'नालदियार' मिलता है। यह पहले बहुत बड़ा ग्रंथ था, अब इसके कुछ अंश ही रह गए हैं। दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ ऋषि तिरुक्कुर का 'कुरल' है, जो वहाँ वेद की तरह पवित्र दृष्टि से देखा जाता है। इसमें तीनों वर्गों, धर्म, अर्थ और काम के संबंध में अत्यंत उपयोगी उपदेश हैं। वह तामिल साहित्य का अत्यंत उत्कृष्ट ग्रंथ है। उसका कर्ता जाति का अन्त्यज माना जाता है और संभवतः वह जैन था। किसी अज्ञात कवि कृत 'चिंतामणि', कंबन-कृत 'रामायणम्', 'दिवाकरम्', 'तामिलव्याकरण' आदि भी इसी भाषा के हमारे समय के ग्रंथ हैं। इसमें कई ऐतिहासिक काव्य भी लिखे गए, जिनमें से कुछ के नाम नीचे दिए जाते हैं—पोङ्कयार-कृत 'कळवळिन्नाडपटु' (सातवीं सदी के आसपास), जयकौंडान-लिखित 'कलिंगतुपरणो' (ग्यारहवीं शताब्दी), 'विक्रम शोलनुला' (बारहवीं सदी) और 'राजराजनुला' (बारहवीं सदी)*। इस साहित्य को प्रायः जैनियों ने ही बढ़ाया फिर वहाँ शैव धर्म का प्रचार हो गया।

तामिल लिपि के अत्यंत अपूर्ण होने के कारण उसमें संस्कृत भाषा नहीं लिखी जा सकती थी, इसलिये उसके लिखने के लिये नई 'ग्रंथलिपि' का निर्माण किया गया जिसमें सब ग्रंथ लिखे जाने लगे।

* मेरी; भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री; पृ० २६-२७।

मलयालम के साहित्य ने भी तामिल कविता का अनुकरण किया, परंतु इसमें शीघ्र ही संस्कृत शब्दों की बहुलता आ गई। इसका हमारे निर्दिष्ट समय का कोई ग्रंथ ऐसा उपलब्ध नहीं है जो उल्लेख्य हो।

तामिल-साहित्य की भाँति कन्नड़ी भाषा के साहित्य को भी जैनियों ने अधिक उन्नत किया। इसके साहित्य में काव्य, अलंकार तथा व्याकरण आदि के ग्रंथ मिलते हैं।

कन्नड़ी

दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष (प्रथम)

ने नवीं शताब्दी में अलंकार विषय पर 'कविराजमार्ग' लिखा। साहित्यिक ग्रंथों के अतिरिक्त जैन, लिंगायत, शैव और वैष्णवों के सांप्रदायिक ग्रंथ भी इस भाषा में मिलते हैं। इनमें मुख्य ग्रंथ लिंगायत संप्रदाय के प्रथम आचार्य वसव का बनाया हुआ 'वसव-पुराण' है। सोमेश्वर का 'शतक' भी एक अच्छा ग्रंथ है। कवि पंप का 'पंपभारत' या 'विक्रमार्जुनविजय' भी हमारे समय का काव्य है और दुर्गासिंह-कृत 'पंचतंत्र' का अनुवाद भी हमारे समय में हुआ। इस भाषा पर संस्कृत का बहुत प्रभाव पड़ा और इसमें संस्कृत के बहुत से ग्रंथों का अनुवाद हुआ*।

तैलंगू आंध्र प्रांत में बोली जाती है। इसके साहित्य पर भी संस्कृत का प्रभाव बहुत पड़ा। इसका प्राचीन साहित्य अधिक

तैलंगू

उपलब्ध नहीं हो सका। पूर्वी सोलंकी राजा

राजराज ने ग्यारहवीं शताब्दी में अन्य विद्वानों

की सहायता लेकर ननियमट्ट (नन्नप्प) से 'महाभारत' का अनुवाद इस भाषा में कराया†।

* इम्पोरियल गैज़ेटियर; जिल्द २, पृ० ४३४-३७

† एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द २, पृ० ३२।

शिक्षा

संपूर्ण साहित्य के संचित वर्णन के बाद तत्कालीन शिक्षा, शिक्षापद्धति और शिक्षणालयों का भी कुछ विवेचन किया जाता है।

हमारे समय के प्रारंभ में शिक्षा का सर्व साधारण में बहुत प्रचार था। गुप्त राजाओं ने शिक्षा के प्रचार के लिये बहुत प्रयत्न किया। उस समय भारतवर्ष संसार के सब देशों में सब से अधिक शिक्षित था। चीन, जापान और सुदूर पूर्वी देशों से पढ़ने के लिये विद्यार्थी भारत में आया करते थे। बौद्ध आचार्य तथा हिंदू तपस्वी और संन्यासी शिक्षा देने में विशेष भाग लेते थे। उनका प्रत्येक संघाराम या मठ एक शिक्षणालय बना हुआ था। प्रत्येक बड़े शहर में कई संघाराम होते थे। हुएन्त्संग लिखता है कि कनौज में ही कई हजार विद्यार्थी संघारामों में पढ़ते थे। मथुरा में २००० विद्यार्थी अध्ययन करते थे।

चीनी यात्रियों के वर्णनों से पता लगता है कि भारत में ५००० मठ या विद्यालय थे, जिनमें २१२१३० विद्यार्थी पढ़ते थे। हुएन्त्संग ने भिन्न भिन्न बौद्ध संप्रदायों के मठों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या भी दी है*। विद्वान् ब्राह्मणों के घर और जैन यतियों के उपाश्रय भी छोटी छोटी पाठशालाओं का काम देते थे। राजाओं की तरफ से भी विद्यालय स्थापित थे। इस तरह प्रायः जगह जगह संपूर्ण भारत में छोटे बड़े शिक्षणालय विद्यमान थे, जिनसे शिक्षा का प्रचार बहुत होता था।

केवल छोटे छोटे शिक्षणालय ही नहीं, किंतु आजकल के विश्व-विद्यालयों की समता करनेवाले बड़े बड़े विश्वविद्यालय भी होते थे।

ऐसे विश्वविद्यालयों में नालंद, तक्षशिला, विक्रम-नालंद विश्वविद्यालय, शील, धनकटक (दक्षिण में) आदि के नाम मुख्य हैं। हुएन्त्संग ने नालंद विश्वविद्यालय का विस्तृत वर्णन

किया है, जिसका सारांश हम यहाँ उद्धृत करते हैं, जिससे तत्कालीन शिक्षणालयों के विषय में कुछ ज्ञान हो जाय ।

प्रारंभ में नालंद विश्वविद्यालय मगध के राजा शकादित्य ने बनाया था, उसके पीछे के राजाओं ने भी उसे बहुत सहायता दी । नालंद विश्वविद्यालय के अधिकार में २०० से अधिक गाँव थे, जो अनेक राजाओं ने दान दिए थे । इन्हीं गाँवों की आय से उसका व्यय चलता था । यहाँ १०००० विद्यार्थी और १५०० अध्यापक रहते थे । सुदूर विदेशों से भी विद्यार्थी यहाँ पढ़ने के लिये आते थे । चारों ओर ऊँचे ऊँचे विहार और मठ बने हुए थे । बीच बीच में सभागृह और विद्यालय थे । उनके चारों ओर बौद्ध-शिक्षकों और प्रचारकों के निवास के लिये चौमंजिली इमारतें थीं । रंग बिरंगे दरवाजों, कढ़ियों, छतों और खंभों की सुंदरता देखकर लोग मोहित हो जाते थे । वहाँ कई बड़े बड़े पुस्तकालय और छः बड़े बड़े विद्यालय थे । विद्यार्थियों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था, किंतु उलटे उन्हें प्रत्येक आवश्यक वस्तु—भोजन, वस्त्र, औषध और निवासस्थान आदि—मुफ्त दी जाती थी । उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों को एक अच्छा कमरा और छोटी श्रेणी के विद्यार्थियों को साधारण कमरा दिया जाता था* ।

इस विश्वविद्यालय में संपूर्ण बौद्ध-साहित्य के अतिरिक्त वेद, गणित, ज्योतिष, तर्कशास्त्र (हेतुविद्या), व्याकरण, वैद्यक आदि अनेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी । वहाँ ग्रह, नक्षत्र आदि देखने का भी बड़ा भारी स्थान था । वहाँ की जलचढ़ी मगधवासियों को समय का परिचय देती थी । उसमें प्रविष्ट होने के लिये एक परीक्षा भी देनी पड़ती थी । यह परीक्षा बहुत कठिन होती थी, जिसमें बहुत से विद्यार्थी असफल होते थे, फिर भी १०००० विद्यार्थियों का होना आश्चर्य

* वील, बुद्धिस्ट रिकार्ड्स आफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड; जिल्द २, पृष्ठ १६७-६८ ।

की बात है। इसमें पढ़े हुए विद्यार्थी बहुत प्रामाणिक विद्वान् माने जाते थे। हर्ष ने अपनी परिपद् के उत्सव में नालंद से १००० विद्वान् बुलाए थे। मुसलमानों के समय में इस महत्त्वपूर्ण और उपयोगी विश्वविद्यालय का नाश हुआ।

भारत में तक्षशिला का विश्वविद्यालय सब से प्राचीन था। पतंजलि, चाणक्य और जीवक यहीं के विद्यार्थी तथा अध्यापक थे। यह विश्वविद्यालय भी बहुत बड़ा था। इसमें तक्षशिला विश्वविद्यालय शिक्षा प्रारंभ करने की आयु सोलह वर्ष की थी। प्रायः राजाओं तथा संपन्न पुरुषों के पुत्र इसमें पढ़ते थे। 'महासुतसोमजातक' में एक आचार्य से पढ़नेवाले १०० से अधिक राजकुमारों का उल्लेख है। गरीब विद्यार्थी दिन में काम करते और रात को पढ़ते थे। कुछ विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय की ओर से भी काम दिया जाता था। कुछ विद्यार्थी पढ़ने के बाद फीस चुकाने की प्रतिज्ञा करते थे। विद्यार्थियों के जीवन और आचार पर विशेष ध्यान दिया जाता था। भिन्न भिन्न जातकों से पता लगता है कि यहाँ अनेक विषय पढ़ाए जाते थे, जिनमें से कुछ ये हैं—वेद, अठारह विद्याएँ (नहीं कहा जा सकता किये कौन सी थीं), व्याकरण, शिल्प, धनुर्विद्या, हस्तिविद्या, मंत्रविद्या और चिकित्साशास्त्र। चिकित्सा शास्त्र पर विशेष ध्यान दिया जाता था। यहाँ की शिक्षा समाप्त कर चुकने पर विद्यार्थी शिल्प, व्यवसाय आदि का क्रियात्मक अनुशीलन तथा देशदेशांतर के रीति रिवाजों का अध्ययन करने के लिये भ्रमण किया करते थे। इसके कई उदाहरण भी जातकों में मिलते हैं। यह विश्वविद्यालय भी मुसलमानों के समय में नष्ट हुआ।

इत्सिंग ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ में प्राचीन शिक्षाक्रम का संक्षिप्त विवरण दिया है। साधारणतः उत्कृष्ट विद्वान् होने के लिये सबसे

पहले व्याकरण का विशेष अध्ययन करना पड़ता था। इत्सिंग ने व्याकरण के कई ग्रंथों का भी वर्णन किया है। पहले नवीन बालकों को छः वर्ष की आयु में वर्णबोध की सिद्ध रचना (सिद्धिरस्तु) पढ़ाई जाती थी। इसमें छः मास लग जाते थे। इसके बाद पाणिनि की अष्टाध्यायी रटाई जाती थी, जिसे विद्यार्थी आठ मास में कंठस्थ कर लेते थे। तदनंतर धातुपाठ, जो अनुमान १००० श्लोकों का है, पढ़ाकर दस वर्ष की अवस्था में नामों और धातुओं के रूप, उणादि सूत्र आदि का अध्ययन कराया जाता था, जो तीन वर्ष में समाप्त हो जाता था। तत्पश्चात् जयादित्य और वामन की 'काशिकावृत्ति' की अच्छी तरह शिक्का दी जाती थी। इत्सिंग लिखता है कि भारत में अध्ययन करने के लिये आनेवालों को इस व्याकरण ग्रंथ का पहले पहल अध्ययन आवश्यक है; ऐसा न करने पर सारा परिश्रम निष्फल होगा। ये सब ग्रंथ कंठस्थ होने चाहियें। इस वृत्ति का अध्ययन कर चुकने के पश्चात् विद्यार्थी गद्य और पद्य की रचना प्रारंभ करते थे और हेतुविद्या तथा अभिधर्म कोष में लग जाते थे। 'न्याय-द्वार-तारक शास्त्र' (नागार्जुन की बनाई हुई हेतुविद्या की भूमिका) के अध्ययन से वे ठीक तौर पर अनुमान कर सकते थे और 'जातकमाला' के अध्ययन से उनकी ग्रहण शक्ति बढ़ती थी। इतना पढ़ चुकने पर विद्यार्थियों को विवाद करने की भी शिक्का दी जाती थी, परंतु अभी व्याकरण का अध्ययन समाप्त नहीं होता। इसके बाद महाभाष्य पढ़ाया जाता था। प्रौढ़ विद्यार्थी इसे तीन वर्ष में सीख लेता था। इसके अनंतर भर्तृहरि की 'महाभाष्य की टीका' और 'वाक्यप्रदीप' पढ़ाई जाकर उन्हें 'पेइन' (संभवतः संस्कृत की बेडावृत्ति) की शिक्का दी जाती थी। मूल ग्रंथ भर्तृहरि ने ३००० श्लोकों में लिखा, जिसकी टीका धर्मपाल ने १४००० श्लोकों में की

थी। इसके पढ़ लेने पर विद्यार्थी व्याकरण का पारंगत विद्वान् हो जाता था। हुएन्त्संग ने भी शिक्षाक्रम दिया है। व्याकरण का पंडित होने के बाद मंत्रविज्ञान, हेतुविद्या और ज्योतिष का अध्ययन कराया जाता है। इसके बाद वैद्यक की शिक्षा दी जाती है। तत्पश्चात् न्याय पढ़ाया जाता है और सब से अंत में अध्यात्म विद्या। इत्सिंग लिखता है “आचार्य जिन के पश्चात् धर्मकीर्ति ने हेतुविद्या को सुधारा और गुणप्रभ ने ‘विनयपिटक’ के अध्ययन को दुबारा लोकप्रिय बनाया*”। यह क्रम केवल उत्कट विद्वान् बनने के लिये था। साधारण विद्यार्थी इस क्रम से अध्ययन नहीं करते थे। वे अपना अभीष्ट विषय पढ़कर अपना सांसारिक कार्य करते थे। धर्मों की शिक्षा भी विशेष रूप से दी जाती थी। यह आश्चर्य की बात है कि बौद्ध विश्वविद्यालयों में बौद्ध धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त हिंदू धर्म के साहित्य की भी पूर्ण शिक्षा दी जाती थी।

शिक्षण-विधि भी बहुत उत्तम थी। हुएन्त्संग लिखता है कि प्रत्येक विषय के प्रकांड विद्वान् अध्यापक विद्यार्थियों के दिमाग में जवर्दस्तो कोई बात प्रवेश न कर उनके मानसिक विकास की तरफ अधिक ध्यान देते हैं। वे सुस्त विद्यार्थियों को अच्छे तरह पढ़ाते हैं और मंदबुद्धि विद्यार्थियों को तीक्ष्ण बुद्धि कर देते हैं†।

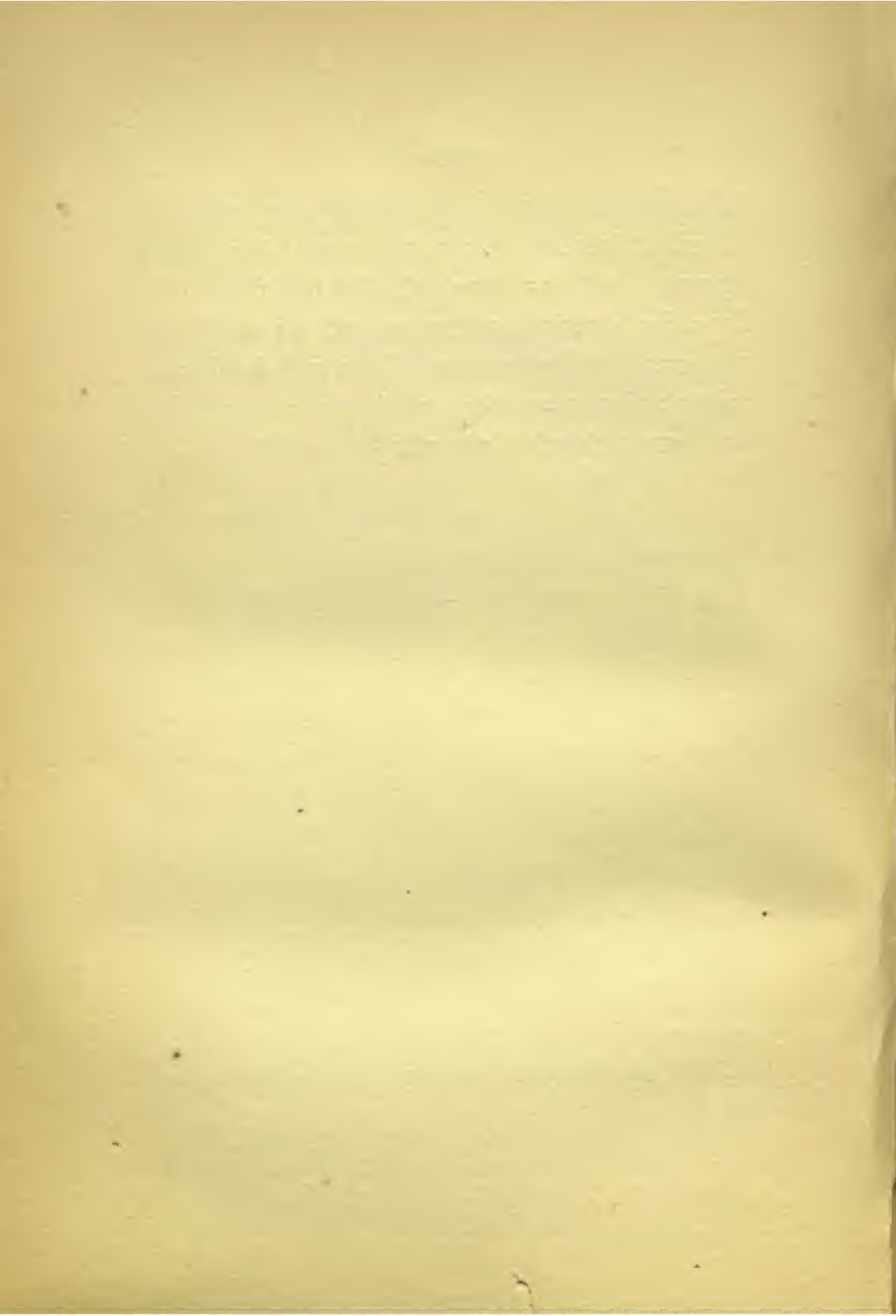
विद्वानों में परस्पर शास्त्रार्थ की प्रथा बहुत प्रचलित थी। इससे साधारण जनता को भी बहुत लाभ पहुँचता था। वह बहुत से सिद्धान्तों से परिचित हो जाती थी।

यह शिक्षाक्रम प्रायः हमारे संपूर्ण काल तक प्रचलित रहा बोड़ा बहुत परिवर्तन अवश्य होता रहा, परंतु इसके मूल सिद्धान्तों में

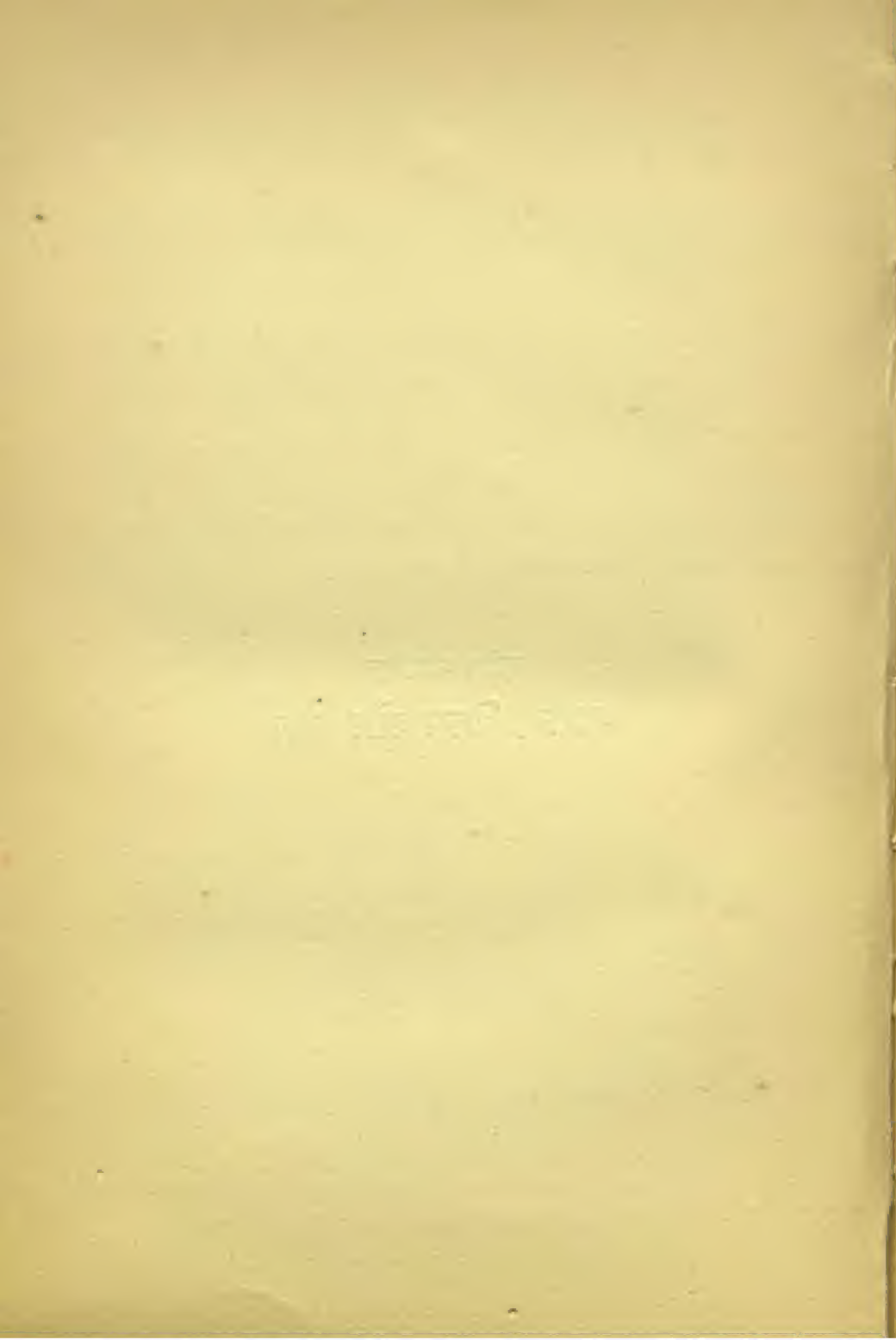
* टाकाकुसु, बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेज इन इंडिया; पृ० १९१-८०, वाटर्स ऑन युवनच्वांगस ट्रीबलस, जि० १; पृ० ११४-११५।

† वाटर्स ऑन युवनच्वांगस ट्रीबलस; जि० १; पृ० १६०।

कोई परिवर्तन हुआ हो, यह मालूम नहीं होता । बड़े बड़े विश्व-विद्यालयों के शिक्षाक्रम का प्रभाव सारे देश पर निश्चित रूप से पड़ता था । यहाँ यह न भूलना चाहिए कि भिन्न भिन्न दार्शनिक और धार्मिक संप्रदायों में यह शिक्षाक्रम उक्त रूप में नहीं था । उनकी पाठशालाओं में साधारण ज्ञान के बाद उन्हीं के धार्मिक या दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन विशेष रूप से कराया जाता था, जैसा कि आजकल काशी आदि में पाया जाता है ।



तृतीय व्याख्यान
शासन, शिल्प और कला



तृतीय व्याख्यान

शासन, शिल्प और कला

✓ प्राचीन भारत में राजनीति और शासन-पद्धति का पूर्ण विकास हो चुका था। हमारे देश में भी राजा के अधिकार किसी प्रकार नियंत्रित थे। यहाँ भी कई प्रजातंत्र राज्य थे, जिनको गणराज्य भी कहते थे। कई राज्यों में राजा चुना भी जाता था। राजा प्रजा पर अत्याचार नहीं कर सकता था। प्रजा की आवाज सुनी जाती थी। शासन-प्रबंध बहुत उत्तम होता था।

हमारे काल में भी हम इस प्रकार का शासन देखते हैं। हर्ष के राज्य-काल के ताम्रलेखों, हर्षचरित और हुएन्त्संग के वर्णन से तात्कालिक शासन-पद्धति का कुछ पता लगता है। राजा उस समय सर्वेसर्वा नहीं था। उसकी मंत्रिपरिषद् होती थी, जिसके हाथ में वस्तुतः राज्य की प्रायः सारी शक्ति रहती थी। राज्यवर्धन का प्रधान सचिव भंडि था। राज्यवर्धन के मारे जाने पर भंडि ने त्रिपरिषद् की बैठक बुलाकर देश की स्थिति समझाई और कहा कि 'राजा का भाई हर्ष कर्तव्यपरायण, प्रजाप्रिय तथा दयालु है। प्रजा उस पर विश्वास करेगी। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि उसे राजा बनाया जाय। प्रत्येक मंत्री इसपर अपनी सम्मति दें'। सब मंत्रियों ने

इस पर सहमत होकर हर्ष से राजा बनने की प्रार्थना की। इससे जान पड़ता है कि मंत्री-परिषद् का शासन में बहुत अधिकार था। भिन्न भिन्न मंत्रियों का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें साधिविप्रहिक, रणभांडागारिक, विनयस्थितिस्थापक (न्याय का प्रबंधकर्त्ता), अच-पटलाधिपति (आय व्यय का हिसाब रखनेवाला) आदि मुख्य हैं। राजा का मुख्य कार्य शासन करना था। वह मंत्री-परिषद् से सलाह लिया करता था। राजा का कर्त्तव्य प्रजा में शांति रखना और उसकी रक्षा करना था। हुएन्त्संग ने लिखा है कि राजा का शासन दयायुक्त नियमों पर अवलंबित था। प्रजा पर किसी प्रकार की जबरदस्ती नहीं की जाती थी। क्षत्रिय लोग बहुत पीढ़ियों से शासन कर रहे हैं, परंतु उनका उद्देश्य प्रजोपकार और दया है*।

एकतंत्र शासन होते हुए भी राजा परोपकारी और प्रजाहितैषी शासक (Benevolent Monarch) था। उस समय ब्राह्मणों

तथा धर्मगुरुओं का प्रभाव राजा पर बहुत
 राजा के कर्त्तव्य होता था। वह राज्य की सब प्रकार की

क्रियाओं और चेष्टाओं (Activities) का उत्तरदाता था। वह केवल प्रजा के आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों की ओर ही ध्यान नहीं देता था, किंतु प्रजा की धार्मिक और शिक्षा-संबंधी अवस्था पर भी लक्ष्य रखता था। बहुत से राजाओं ने धार्मिक उन्नति में विशेष भाग लिया, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। राजाओं ने शिक्षा की उन्नति के लिये भी विशेष प्रयत्न किया। उनके दरबार में बड़े बड़े कवियों और विद्वानों को आश्रय दिया जाता था। जब कभी कोई कवि एक उत्कृष्ट ग्रंथ तैयार करता, तो राजा दूसरे नरेशों के दरबारों से भी उसे सुनने के लिये विद्वान् प्रतिनिधि बुलाता था। काश्मीर के राजा जयसिंह के समय में मंल-रचित 'श्रीकंठचरित' सुनने

के लिये कन्नौज के गोविंदचंद्र के दरबार से सुहल और उत्तरी कोकण के राजा अपरादित्य के दरबार से तेजकंठ आदि विद्वान् भेजे गए थे। प्रायः प्रत्येक दरबार में कुछ कवि तथा विद्वान् रहते थे, जिनका वहाँ पूर्ण सम्मान होता था। राजा लोग उन्हें नए नए ग्रंथ लिखने के लिये भी उत्साहित करते थे।

शासन की सुविधा के लिये देश भिन्न भिन्न भागों में बँटा हुआ था। मुख्य विभाग भुक्ति (प्रांत), विषय (जिला) और ग्राम थे। सबसे मुख्य संस्था ग्राम-संस्था थी।

ग्राम-संस्था

बहुत प्राचीन काल से भारतवर्ष में ग्राम संस्थाओं का प्रचार था। ग्राम के लिये वहाँ की पंचायत ही सब कुछ कार्य करती थी। केंद्रीय सरकार का उसी से संबंध रहता था। ये ग्राम-संस्थाएँ एक छोटा सा प्रजातंत्र थीं इनमें प्रजा का अधिकार था। मुख्य सरकार के अधीन होते हुए भी ये एक प्रकार से स्वतंत्र थीं।

प्राचीन तामिल इतिहास से उस समय की शासन-पद्धति का विस्तृत परिचय मिलता है, परंतु हम स्थानाभाव से संक्षिप्त वर्णन ही देंगे। शासन कार्य में राजा की सहायता देने के लिये पाँच समितियाँ होती थीं। इनके अतिरिक्त जिलों में तीन सभाएँ होती थीं। ब्राह्मण सभा में सब ब्राह्मण सम्मिलित होते थे। व्यापारियों की सभा व्यापारादि का प्रबंध करती थी। चोल राजराज (प्रथम) के शिलालेख से १५० गाँवों में ग्राम-सभाओं के होने का पता लगता है। इन सभाओं के अधिवेशन के लिये बड़े बड़े भवन होते थे, जैसे तंजोर आदि में बने हुए हैं। साधारण गाँवों में बड़े बड़े वट-वृक्षों के नीचे सभाओं के अधिवेशन होते थे। ग्राम-सभाओं के दो रूप—विचार-सभा और शासन-सभा—रहते थे। संपूर्ण सभा के सभ्य कई समितियों में विभक्त कर दिए जाते थे। कृषि और उद्यान, सिंचाई, व्यापार, मंदिर, दान आदि के लिये भिन्न भिन्न

समितियाँ थीं। एक समय एक तालाब में पानी अधिक आने के कारण ग्राम को हानि पहुँचने की संभावना होने पर ग्राम-सभा ने तालाब-समिति को उसका सुधार करने के लिये बिना सूद रुपया दिया और कहा कि इसका सूद मंदिर-समिति को दिया जाय। यदि कोई किसान कुछ वर्ष तक कर न देता था, तो उससे भूमि छीन ली जाती थी। ऐसी जमीन फिर नीलाम कर दी जाती थी। भूमि बेचने या खरीदने पर ग्राम-सभा उसका पूरा विवरण तथा दस्तावेज अपने पास रखती थी। सारा हिसाब-किताब ताडपत्रादि पर लिखा जाता था। सिंचाई की तरफ विशेष ध्यान दिया जाता था। जल का कोई भी स्रोत व्यर्थ नहीं जाने पाता था। नहरों, तालाबों और कुओं की मरम्मत समय समय पर होती थी। आय-व्यय के रजिस्ट्रों का निरीक्षण करने के लिये राज्य की ओर से अधिकारी नियुक्त किए जाते थे*।

चोल राजा परांतक के समय के शिलालेख से ग्राम-संस्थाओं की निर्माण-पद्धति पर बहुत प्रकाश पड़ता है। उसमें ग्राम-सभा के सभ्यों की योग्यता अयोग्यता संबंधी नियम, सभाओं के अधिवेशन के नियम, सभ्यों के सार्वजनिक चुनाव के नियम, उपसमितियों का निर्माण, आय-व्यय के परीक्षकों की नियुक्ति आदि पर विचार किया गया है। चुनाव सार्वजनिक होता था, इसकी विधि यह होती थी कि लोग ठीकरियों पर उम्मीदवार का नाम लिखकर घड़े में डाल-देते थे, सबके सामने वह घड़ा खोलकर उम्मीदवारों के मत गिने जाते थे और अधिक मत से कोई उम्मीदवार चुना जाता था†।

* चिनयकुमार साकार; दी पोलिटिकल इंस्टिट्यूशंस एंड पब्लिक आफ दी हिंदूज; पृ० २३-२६।

† आर्किबाल्डाजिकल सर्वे आफ इंडिया; एन्सुअल रिपोर्ट १९०४-५; पृ० १४२-४२।

इन संस्थाओं का भारत की जनता पर जो सबसे अधिक व्यापक प्रभाव पड़ा वह यह है कि वह ऊपर के राजकीय कार्यों से उदासीन रहने लगी। राज्य में चाहे कितने बड़े बड़े परिवर्तन हो जायें, परंतु पंचायतों के वैसे ही रहने से साधारण जनता में कोई परिवर्तन नहीं दीखता था। जन साधारण को परतंत्रता का कटु अनुभव कभी नहीं होता था। इतने विशाल देश के भिन्न भिन्न राज्यों के लिये यह कठिन भी है कि वे गाँवों तक की सब बातों की तरफ ध्यान रख सकें। भारतवर्ष में इतने परिवर्तन हुए, परंतु किसी ने पंचायतों को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया।

शहरों में म्यूनिसिपैलिटियाँ या नगर-सभाएँ भी होती थीं, जो नगर का पूर्ण प्रबंध करती थीं।

शासन और न्याय के नियम पर्याप्त कठोर थे। अंगच्छेद, देशनिर्वासन, जुर्माना और कारागार आदि दंड प्रचलित थे*। दण्ड के जन्म पर कैदियों को छोड़े जाने का उल्लेख दंड बाण ने किया है। याज्ञवल्क्य ने कई कठोर एवं क्रूर दंडों के देने का वर्णन किया है। ब्राह्मणों को विशेष कठोर दंड नहीं दिया जाता था। न्याय-विभाग के लिये एक विशेष अधिकारी रहता था, जिसके नीचे भिन्न भिन्न प्रांतों और स्थानों में अन्य अधिकारी रहते थे। याज्ञवल्क्य ने न्याय के बहुत से नियमों का वर्णन किया है, जिससे पता लगता है कि उस समय की न्यायव्यवस्था कितनी उन्नत और पूर्ण थी। अभियोगों में लिखित और मौखिक साक्षियों की परीक्षा की जाती थी। आश्चर्य की बात यह है कि सब बातों में इतनी उन्नति होती हुए भी दिव्यसाक्षात् (Ordeals) की क्रूर प्रथा विद्यमान अवश्य थी†, परंतु बहुत ही कम उपयोग में आती थी।

* वाटर्स धान युवनच्यंग्स ट्रैक्टर; जिल्द १, पृ० १०२।

† वही; पृ० १०२; अलबेरुनी इंडिया; जि० २, पृ० १२८-२९।

कानून में स्त्रियों की भी राजनीतिक स्थिति स्वीकृत की जाती थी । उत्तराधिकार-संबंधी नियमों में स्त्री की संपत्ति का भी अच्छा विवेचन किया गया है । पुत्र के न होने पर लड़की स्त्रियों की राजनीतिक स्थिति ही पिता की संपत्ति की अधिकारिणी होती थी । अपने पिछ-गृह की ओर से मिलनेवाले धन पर स्त्री का पूर्ण स्वत्व रहता था । मनु ने भी इसका उल्लेख किया है* ।

राज्य की ओर से व्यापार और व्यवसाय की रक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था । कारीगरों की रक्षा के लिये विशेष नियम बने हुए थे । यदि कोई व्यापारी अनुचित उपायों द्वारा वस्तुओं का मूल्य आदि बढ़ा देता या बाट और नाप कम या अधिक रखता तो उसे दंड मिलता था ।

उस समय के शासन का कुछ परिचय तत्कालीन कर्मचारियों के नामों से मिलता है । राजा या सम्राट् के नीचे बहुत से छोटे छोटे

शासन-प्रबंध राजा होते थे, जिन्हें महाराजा, महासामंत आदि उपाधियाँ मिलती थीं । ये राजा

सम्राट् के दरबार में उपस्थित होते थे, जैसा कि वाण के वर्णन से विदित होता है । कभी जागीरदार भी ऊँचे पदों पर पहुँच जाते थे । प्रांत के शासक को 'उपरिक महाराज' कहते थे । कई शिलालेखों में प्रांतीय शासकों के गोप्ता, भोगिक, भोगपति, राज-स्थानीय आदि नाम भी मिलते हैं । प्रांतीय शासक, विषय या जिले के शासक को नियुक्त करता था, जिसे विषयपति या आयुक्तक कहते थे । विषयपति अपने जिले के मुख्य स्थान में, जिसे अधिष्ठान कहते थे, अपना अधिकरण या दफ्तर रखता था ।

प्रांतीय शासकों के पास राजा की लिखित आज्ञाएँ जाती थीं । एक ताम्रपत्र से पता लगता है कि ये आज्ञाएँ तभी ठोक मानी जाती

* विनयकुमार सरकार, दी पोलिटिकल इंस्टिट्यूशंस एंड ध्यूरीज आफ़ दी हिंदूज; ४० २७-३० ।

थीं, जब कि उन पर सरकारी मुहर हो, प्रांतीय शासक की स्वीकृति हो, राजा का हुक्मा और तत्संबंधी सब क्रियाएँ ठोक हों* । राजा की तरफ से दी गई तमास सनदों पर राजमुद्रा की छाप होती थी, यहाँ तक कि दानपत्रों के साथ जुड़ी हुई और ताँबे पर ढली हुई बड़ी बड़ी राजमुद्राएँ मिलती हैं, जिनमें कहीं कहीं राजा के पूर्वजों की पूरी नामावली तक रहती थी । ऐसी मुद्राओं में कन्नौज के रघु-वंशी प्रतिहार राजा भोजदेव तथा मौखरी शर्ववर्मा आदि की मुद्राएँ उल्लेखनीय हैं ।

स्थानीय सरकारों के भिन्न भिन्न कर्मचारियों के नाम भी शिलालेखों में मिलते हैं, जिनमें से हम कुछ यहाँ देते हैं, जैसे महत्तर (ग्राम-सभा के सभ्य), ग्रामिक (ग्राम का मुख्य शासक), शौल्किक (कर लेनेवाला कर्मचारी), गौल्मिक (किलों का अध्यक्ष), ध्रुवाधिकरण (भूमि-कर लेनेवाला), भांडागाराधिकृत (कोषाध्यक्ष), तलवाटक (ग्राम का हिसाब रखनेवाला) । कुछ छोटे छोटे कर्मचारियों के नामों का उल्लेख भी मिलता है । वर्तमान क्लर्क के नाम 'दिविर' और 'लेखक' थे । 'करणिक' आजकल के रजिस्ट्रार का काम करता था । इन कर्मचारियों के अतिरिक्त दूसरे भी बड़े बड़े कर्मचारी रहते थे । दंडपाशिक, चौराद्वरणिक आदि पुलिस के कर्मचारियों के नाम थे† ।

राज्य की आय कई विभागों से होती थी । सबसे अधिक आय भूमि-कर से थी । भूमि-कर उपज का छठा हिस्सा होता था । किसानों

* मुद्राशुद्धं क्रियाशुद्धं भुक्तिशुद्धं सच्चिद्वक्त्रम् ।

राज्ञः स्वहस्तशुद्धं च शुद्धिमाप्नोति शालनम् ॥

शिलारावंशी राजा रहाराज का शक संवत् ६३० (वि० सं० १०९२) का दानपत्र । पृष्ठप्राफिया इंडिका; जिल्द ३, पृ० ३०२ ।

† चिंतामणि विनायक वैद्य; हिस्ट्री आफ मिडिण्डल इंडिया; जि० १, पृ० १२८-४१; राधाकुमुद सुकर्जी; हर्ब; पृ० १०३-१२ ।

पर भी एक आध और कर लगता था। ये कर अनाज के रूप में लिए जाते थे। मंडपिका (चूंगी कर) भी कई पदार्थों पर लगता था।

आय-व्यय

बंदरगाहों पर भी आनेवाले माल पर तथा दूसरे राज्य से अपनी सीमा में आनेवाले माल पर आयात कर लगता था। शूत-भवनों पर भी बहुत कर लगता था। नमक तथा खानों पर भी कर लगाया जाता था*, परंतु ये कर भारी नहीं थे जैसा कि हुएन्त्संग का कथन है। उसने राजकीय आय का चार भागों में व्यय किए जाने का वर्णन किया है। एक भाग सरकार तथा राष्ट्रीय कार्यों के लिये व्यय किया जाता था, दूसरा भाग सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के लिये खर्च होता था, तीसरा भाग शिखा-विभाग के लिये और चौथा भिन्न भिन्न धार्मिक संप्रदायों को सहायता देने के लिये रहता था†।

खेती की उन्नति के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया जाता था। सरकार की ओर से भूमि को नापा जाता था। कई शिलालेखों में मानदंड, 'निवर्तन', 'पदार्त' आदि नापों का उल्लेख मिलता है। राज्य की तरफ से लंबाई का 'मापक' निश्चित था। पारमेश्वरीय हस्त भी एक परिमाण होता था। ग्रामों की सीमाएँ निश्चित की जाती थीं। ग्राम पर कर लगता था। ग्रामों के साथ गोचर-भूमि छोड़ी जाती थी। जागीर या इनाम में मिले हुए गाँवों पर कोई कर नहीं लगता था। राज्य की ओर से तोल के बाटों का भी निरीक्षण किया जाता था‡।

* राधाकुमुद मुखोपाध्याय; हर्ष; पृ० ११२-१३।

† वाटर स्नान युवनच्चांगस ट्रेवल्स; जि० १, पृ० १७९-७७।

‡ चिंतामणि विनायक वैद्य; हिस्ट्री आफ सिन्डिक्ल इंडिया; जि० १, पृ० १३३, जिल्द २, पृ० २४०।

राज्य की ओर से सार्वजनिक हित के कार्यों की तरफ भी बहुत ध्यान रहता था। नगरों में धर्मशालाएँ और कुएँ बनाए जाते थे।

सर्वजनिक कार्य गरीब रोगियों के लिये औषधालय भी राज्य की ओर से स्थापित किए जाते थे। सड़कों पर भी यात्रियों के आराम के लिये वृक्ष, जलाशय आदि के प्रबंध किए जाते थे। राज्य की ओर से शिक्षणालयों को विशेष सहायता दी जाती थी।

इस शासन-प्रबंध के अतिरिक्त भारत की सैनिक व्यवस्था भी कम उन्नत नहीं थी। सैनिक विभाग शासन-प्रबंध से बिल्कुल पृथक्

सैनिक प्रबंध

था। प्रांतीय शासकों का सेना पर कोई अधिकार नहीं था, उसके अधिकारी बिल्कुल स्वतंत्र रहते थे। प्रायः हर समय युद्ध आदि की संभवना के कारण सेनाएँ काफी बड़ी रहती थीं। हर्ष की सेना में ६०००० हाथी और १००००० घोड़े थे। हुएन्त्संग ने हर्ष की सेना चार प्रकार की—हाथी, घोड़े, रथ और पदाति—बताई है*। घोड़े भिन्न भिन्न देशों से मँगवाए जाते थे। बाण ने कांबोज, वनायुज, सिंधुज, पारसीक आदि घोड़ों की जातियों के नाम दिए हैं। पीछे से शनैः शनैः रथों का प्रचार कम होता गया।

इन चार प्रकार की सेनाओं के अतिरिक्त जल-सेना भी बहुत सुसंगठित और व्यवस्थित थी। जिन राज्यों की सीमा पर बड़े बड़े दरिया होते थे वे नौ-सेना रखते थे। समुद्री तट के राज्यों को भी नौ-सेना रखने की आवश्यकता थी। हुएन्त्संग ने अपनी यात्रा के प्रसंग में जहाजों का वर्णन किया है। मलाया, जावा, बाली आदि द्वीपों में हिंदुओं के राज्य विद्यमान थे, इससे भी जल-सेनाओं के सुव्यवस्थित होने का निश्चय होता है। चोल राजा बहुत शक्ति-

शाली जल-सेना रखते थे। राजराज ने चेर-राज्य का जंगी बेड़ा नष्ट कर लंका को अपने राज्य में मिला लिया था। राजेन्द्र चोल का जंगी बेड़ा निकोबार और अंडमन द्वीपों (आजकल का काला पानी) तक पहुँचा था। स्ट्रैबो ने भारतीय सेना में जल-सेना के होने का उल्लेख किया है। जल-सेना की विद्यमानता बहुत प्राचीन काल से थी। मैगस्थनीज ने चंद्रगुप्त की सेना का वर्णन करते हुए जल-सेना का वृत्तांत लिखा है। भिन्न-भिन्न सेनाओं के लिये भिन्न-भिन्न अफसर होते थे। संपूर्ण सेना के अधिकारी को 'महासेनापति', 'महाबलाध्यक्ष' या 'महाबलाधिकृत' कहते थे। 'भट्टारक सेनापति', पैदल और घोड़ों की सेना के अध्यक्ष को कहते थे। घोड़ों की सेना के अध्यक्ष को 'बृहदश्ववार' कहते थे। युद्ध-विभाग के कोषाध्यक्ष को 'रणभांडागाराधिकरण' कहते थे। काश्मीर के इतिहास से एक 'महासाधनिक' का पता लगता है, जो युद्ध के लिये आवश्यक सामग्री की व्यवस्था करता था*।

सेना के सिपाहियों को वेतन नकद दिया जाता था, पर प्रबंध के अन्य कर्मचारियों को अनाज के रूप में दिया जाता था। स्थिर सेना (Standing army) के अतिरिक्त कठिन अवसरों पर अस्थायी सेना की भी व्यवस्था की जाती थी। कई राज्यों में दूसरे राज्यों के लोग भी भरती किए जाते थे†।

उपर्युक्त शासन-व्यवस्था और प्रबंध हमारे सारे निर्दिष्ट काल में राजनीतिक स्थिति एक सा ही नहीं रहा। इसमें बहुत परिवर्तन तथा शासन-वृद्धि में हुए। हम संक्षेप में उन परिवर्तनों पर कुछ परिवर्तन विचार करते हैं।

० चिंतामणि विनायक वैद्य; हिस्ट्री आफ मिडिण्डल इंडिया; जि० १, पृ० १४२-२५१।

† राधाकुमुद मुकर्जी; हर्ष; पृ० २७-६८।

पिछले समय में भारतवर्ष की राजनीतिक स्थिति बहुत अधिक अच्छी नहीं रही। छोटे छोटे राज्य बनते जा रहे थे। हर्ष और पुलकेशी के बाद तो इन दोनों का राज्य कई भागों में विभक्त हो गया। सोलंकी, पाल, सेन, प्रतिहार, यादव, गुहिल, राठोड़ आदि कई वंश अपनी अपनी उन्नति में लगे हुए थे। कहने का अभिप्राय यह है कि संपूर्ण भारत के बहुत से राज्यों में विभक्त होने से उनकी शक्तियाँ बिखर गईं। भारत में एक राष्ट्रीयता का भाव प्रबल रूप से नहीं था। इन राज्यों के पारस्परिक युद्धों से देश की शांति नष्ट होती रही। इसका स्वाभाविक परिणाम देश की शासन-पद्धति तथा अन्य राजकीय संस्थाओं पर पड़ा। सब राजा शनैः शनैः अधिक स्वतंत्र और उच्छृंखल होते गए। देश के शासन की ओर उनका अधिक ध्यान न रहा। प्रजा की आवाज की सुनवाई कम होने लगी। राजाओं को सेना की विशेष आवश्यकता होने पर उन्होंने प्रजा पर अधिक कर लगाए। राजा स्वयं ही मंत्रियों की नियुक्ति करता था। कोई जनसभा या क्रमागत मंत्रि-परिषद् नहीं थी। इस समय तक राज्य के पुराने अधिकारी ही चले आते थे। ग्यारहवीं और बारहवीं सदी के शिलालेखों में राजामात्य, पुरोहित, महाधर्माध्यक्ष, महासाधिविग्रहिक, महासेनापति, महामुद्राधिकृत (राजमुद्रा का रक्षक), महाच-पटलिक और महाभोगिक आदि अधिकारियों के नाम मिलते हैं, जिनसे विदित होता है कि शासन-प्रबंध में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। इन अधिकारियों में 'महा' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि इनके अधीन भी बहुत से कर्मचारी रहते थे*। रानी और युवराज भी शासन में भाग लेते थे। कुछ राज्यों में छोटे छोटे कर बढ़ा दिए गए। पिछले राजाओं के समय में कई कर लगाने का

* चिंतामणि विनायक वैद्य; हिस्ट्री आफ मिडिएवल इंडिया; जि० ३, पृ० ४२२-२४।

उल्लेख मिलता है। भूमि और कृषि आदि की भी व्यवस्था पूर्ववत् थी। चेत्रपाल और प्रांतपाल आदि कई अधिकारियों के नाम मिलते हैं। आय-व्यय विभाग भी पहले की तरह ही था। न्यायालयों की भी व्यवस्था अच्छी थी। राजा की अनुपस्थिति में प्राङ्-विवाक (न्यायाधीश) काम करता था। अलबेरुनी ने मुकद्दमों के विषय में लिखा है—‘अभियोग उपस्थित करते हुए वादी अपनी पुष्टि में प्रमाण देता था। यदि कोई लिखित प्रमाण न हो तो कम से कम चार गवाह चाहिए। उन्हें जिरह की आज्ञा नहीं दी जाती थी। ब्राह्मणों और क्षत्रियों को हत्या के अपराध में प्राणदंड नहीं दिया जाता था। उनकी संपत्ति लूटकर उन्हें देशनिर्वासित कर दिया जाता था। चोरी के अपराध में ब्राह्मण को अंधा करके उसका बायाँ हाथ और दहिना पैर काट दिया जाता था। क्षत्रिय अंधा नहीं किया जाता था*’। इससे जान पड़ता है कि उस समय तक भी क्रूर दंड देने की प्रथा विद्यमान थी।

सैनिक व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन हो रहा था। राजाओं के पास अपनी स्थिर सेना रखने का रिवाज कम हो रहा था, परंतु सरदारों और जागीरदारों के पास सेनाएँ रखने और युद्ध के समय पर उनसे सेनाएँ लेने की रीति का प्रचार बढ़ रहा था। भिन्न भिन्न राज्यों की सेवा में दूसरे राज्यों के वीर सिपाही भरती किए जाते थे। पिछले ताम्रपत्र आदि से भी मालूम होता है कि इस समय भी महामेनापति और हाथियों, घोड़ों, ऊँटों, जल-सेना के भिन्न भिन्न अफसर, प्रेषणीक, गमागमिक आदि अधिकारी रहते थे†।

भिन्न भिन्न राज्यों के पारस्परिक द्वेष और शत्रुता के कारण सब राष्ट्र निर्बल हो गए थे। सिंध तो आठवीं सदी में ही मुसलमानों

* अलबेरुनीज इंडिया; जि० २, पृ० १२८-६३।

† चिंतामणि विनायक वैद्य; हिस्ट्री आफ़ मिडिएवल इंडिया; जिल्द ३, पृ० २७०।

के अधिकार में चला गया था और ग्यारहवीं शताब्दी में लाहौर तक पंजाब उनके हाथ में जा चुका था। बारहवीं सदी के अंत तक दिल्ली, अजमेर, कन्नौज आदि मुसलमानों के हाथ में चले गए और पीछे से युक्त प्रांत, बंगाल, दक्षिण आदि पर भी क्रमशः उनका अधिकार हो गया और शनैः शनैः अधिकांश हिंदू-राज्य नष्ट हो गए।

आर्थिक स्थिति

हम पहले कह चुके हैं कि भारतवर्ष न केवल आध्यात्मिक उन्नति में पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ था, किंतु भौतिक उन्नति में बहुत कमाल कर चुका था। अब उस समय की भारत की आर्थिक अवस्था पर कुछ विचार किया जाता है।

भारतवर्ष का मुख्य व्यवसाय कृषि था। उस समय प्रायः सभी प्रकार के अनाज और फल यहाँ होते थे। कृषकों की प्रत्येक

कृषि और सिंचाई प्रकार की सुविधा का पूरा खयाल रक्खा जाता था। सिंचाई का बहुत अच्छा प्रबंध था। नहरों, तालाबों और कुओं द्वारा सिंचाई की जाती थी।

नहरों का प्रबंध प्रशंसनीय था। राजतरंगिणी में 'सूय' नामक इंजिनियर का वर्णन आता है। काश्मीर में बाढ़ आने पर वहाँ के राजा अर्वातिवर्मन् ने सूय से इसका प्रबंध करने को कहा। उसने वितस्ता (भेलम) के तट पर बहुत पानी देखकर बड़े बड़े बाँध बँधवाकर उससे नहरें निकलवाईं। इतना ही नहीं, उसने प्रत्येक ग्राम की भूमि का इस दृष्टि से वैज्ञानिक निरीक्षण किया कि उसके लिये कितने जल की आवश्यकता है। उसके अनुसार प्रत्येक ग्राम को यथोचित जल देने की व्यवस्था की गई। कल्हण ने लिखा है कि सूय ने नदियों को इस तरह नचाया, जैसे सँपेरा साँपों को नचाता

है। उसकी इस व्यवस्था के परिणाम स्वरूप खेती बहुत हुई और एक खारी (परिमाण विशेष) चावल का दाम २०० दीनारों से ३६ दीनार तक हो गया। तामिल प्रदेश में नदियों को मुहानों के पास रोकर पानी इकट्ठा करने की व्यवस्था की जाती थी। हमारे समय से पूर्व करिकाल चोल ने कावेरी नदी पर सौ मील का एक बाँध बनवाया था। राजेंद्र (१०१८-३५ ई०) ने अपनी नई राजधानी के पास बड़ा भारी जलाशय बनवाया। बड़े बड़े तालाब भी हमारे समय से बहुत पूर्व बनाए जाते थे। चंद्रगुप्त मौर्य के समय गिरनार के नीचे एक विशाल सरोवर बनवाया गया था, जिसमें से अशोक ने नहरें निकलवाईं। इनकी समय समय पर मरम्मत होती रही*। बहुत से राजा स्थान स्थान पर अपने नाम से बड़े बड़े विशाल तालाब बनवाते थे, जिनसे सिंचाई बहुत अच्छी तरह हो सकती थी। ऐसे तालाब बहुत से स्थानों पर अब भी मिलते हैं। परमार राजा भोज ने भोजपुर में एक बहुत बड़ा तालाब बनवाया था, जो संसार की कृत्रिम झीलों में सबसे बड़ा था। इसको मुसलमानों ने नष्ट कर दिया। अजमेर में आनासागर, बीसला आदि तालाब भी पहले के राजाओं ने बनवाए थे। कुओं से भिन्न भिन्न प्रकार से सिंचाई होती थी, जो आज भी प्रचलित है। इस प्रथा को भारतीय लंका में भी ले गए थे। पराक्रमबाहु (११५० ई०) ने लंका में १४७० तालाब और ५३४ नहरें बनवाईं और बहुत से तालाब तथा नहरों की मरम्मत कराई। इससे मालूम होता है कि उस समय सिंचाई की तरफ कितना ध्यान दिया जाता था।

* विनयकुमार सरकार; दी पोलिटिकल इंस्टिट्यूशंस एंड थ्योरीज आफ दी हिंदूज, पृ० १०३-४।

† वही; पृ० १०३-४।

कृषि के बाद व्यापार की मुख्यता थी। भारत के बड़े बड़े शहर व्यापार के केंद्र थे। भारतवर्ष में केवल ग्राम ही नहीं थे, विशाल नगर भी बहुत प्राचीन काल से विद्यमान थे। पांड्य राजाओं की राजधानी मदुरा बहुत विस्तृत नगर था, जो अपने शानदार और गगनमोदी प्रासादों के कारण प्रसिद्ध था। मलाबार के तट पर वंजि (वंजि) व्यापारिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का नगर था। कोरोमंडल तट पर पकर (कावेरीप्पुम्प-हिनम्) बहुत उत्तम बंदरगाह था। सोलंकियों की राजधानी वातापी (बीजापुर जिले में) अंतरराष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वशाली थी। बंगाल का बंदरगाह तासलिमि (तमलक) भी व्यापारिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का और विशाल नगर था, जहाँ से व्यापारी पूर्वीय चीन की तरफ जाते थे। कन्नौज तो विशाल एवं एक प्रसिद्ध नगर था। मालवा की उज्जयिनी नगरी भी कम विशाल नहीं थी। यह उत्तरी भारत और भड़ोच के बंदरगाह के बीच में व्यापारिक दृष्टि से मध्यस्थ काम करती थी। बंबई प्रांत के भड़ोच (भृगुकच्छ) बंदरगाह से फारस, मिश्र आदि में भारत से माल जाता था। पाटलिपुत्र तो मौर्यकाल से प्रसिद्ध था, जिसका विस्तृत वर्णन मेगास्थनीज ने किया है। उसके कथनानुसार इसके ५७० बुरुज और ६४ दरवाजे थे और उसका क्षेत्रफल २१^१/_२ मील था, जो अरेलियन के समय के रोम से दुगुने से भी कुछ अधिक था। इसी तरह और भी अनेक बड़े बड़े शहर भारतीय व्यापार के केंद्र थे* ।

व्यापार जल और स्थल मार्ग से होता था। बड़े बड़े जहाजी वेड़े व्यापार के लिये बनाए गए थे। अरब, फिनीशिया, फारस, मिश्र, ग्रीस, रोम, चंपा, जावा, सुमात्रा आदि के साथ भारत का

* विनयकुमार सरकार, दी पोलिटिकल इंस्टिट्यूशंस एंड थ्योरिज आफ
दी हिंदूज; पृ० ६०-६४।

व्यापार होता था। समुद्र-यात्रा का निषेध पीछे से हुआ। हर्ष ने हुएन्त्संग को समुद्र-मार्ग से चीन लौटने की सलाह दी थी। जावा की कथाओं से ५००० भारतीयों का कई जहाजों द्वारा जावा में जाने का वर्णन मिलता है। इत्सिंग लौटता हुआ समुद्र-मार्ग से ही चीन को गया था। भारतीय पोतकला में बहुत प्रवीण थे और इसे वे बहुत प्राचीन काल से जानते थे। प्रोफेसर मैक्सवर्क के कथनानुसार ई० पूर्व २००० में भी भारतीय इस कला से अभिज्ञ थे*।

स्थलमार्ग से भी व्यापार बहुत बढ़ा हुआ था। भारतवर्ष में व्यापार के लिये बड़ी बड़ी सड़कें बनाई जाती थीं। इन सड़कों का महत्त्व युद्ध की दृष्टि से भी बहुत था। व्यापार के स्थलमार्ग एक विशाल सड़क कोरोमंडल तट (पूर्वी) से कुमारी अंतरीप तक १२०० मील लंबी थी, जिसे कुलोत्तुंग चोड़देव (ई० स० १०७०-१११८) ने बनवाया था। इसका सैनिक दृष्टि से भी विशेष महत्त्व था। हमारे समय से बहुत पूर्व मौर्यकाल में भी पाटलिपुत्र से अफगानिस्तान तक ११०० मील लंबी सड़क बन चुकी थी। साधारण सड़कें तो बहुत जगह बनी हुई थीं†। स्थल-मार्ग से केवल स्वदेश में ही नहीं, विदेश में भी व्यापार होता था। राज डेविड्ज ने लिखा है—“स्वदेश और विदेश में भारतीय व्यापार दोनों मार्गों से होता था। ५०० बैलगाड़ियों के कारवान का वर्णन मिलता है‡”। स्थलमार्ग से चीन, बैलिन, अरब, फारस आदि के साथ भारत का व्यापार होता था। एंसाइक्लोपीडिया

* हरबिलास सारडा; हिंदू सुपीरिवैरिटी; पृ० ३६४।

† चिनयकुमार सरकार; दी पोलिटिकल इन्स्टिट्यूशंस एंड ध्यूरीज आफ दी हिंदूज; पृ० १०२-३।

‡ दी जरनल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी; १९०३ ई०।

ब्रिटैनिका में लिखा है कि यूरोप के साथ भारत का व्यापार निम्न-लिखित मार्गों से होता था—

१—भारत से पलमायरा नामक शहर द्वारा रोम होता हुआ सीरिया की तरफ ।

२—हिमालय को पार कर आक्सस होते हुए कैस्पियन सागर और वहाँ से मध्य यूरोप* ।

भारतवर्ष से अधिकतर रेशम, र्छाँट, मलमल आदि भिन्न भिन्न प्रकार के वस्त्र और मणि, मोती, हीरे, मसाले, मोरपंख, हाथीदाँत आदि बहुत अधिक विदेशों में जाते थे ।

भारतीय व्यापार

मिश्र की आधुनिक खोज में वहाँ की मणियों की कुछ पुरानी कवरों से बारीक भारतीय मलमल भी मिली है । विदेशी व्यापार के कारण भारतवर्ष बहुत अधिक समृद्ध हो गया । प्लिनी ने लिखा है कि प्रति वर्ष रोमन साम्राज्य से दस लाख पौंड (एक करोड़ रुपए) भारत में आते थे† और केवल रोम से चालीस लाख रुपए भारत में खिंचे चले जाते थे‡ ।

देश के आंतरिक व्यापार में भिन्न भिन्न तीर्थों का भी बहुत महत्त्व था । इनके मेलों में सब प्रकार के व्यापारी और ग्राहक आते थे और बड़ी भारी खरीद फरोख्त होती थी । आज भी हरिद्वार, काशी और पुष्कर आदि तीर्थों में होनेवाले मेले व्यापारिक दृष्टि से कम महत्त्व के नहीं हैं ।

आजकल भारतवर्ष केवल कृषिप्रधान देश रह गया है, परंतु पहले यह बात न थी । भारतवर्ष में व्यवसाय और उद्योग-धंधे भी बहुत अच्छी अवस्था में थे । सबसे उत्तम व्यवसाय वस्त्रों का

* एंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका; जि० ११, पृ० ४५३ ।

† प्लिनी; नैचरल हिस्ट्री ।

‡ एंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका; जि० ११, पृ० ४६० ।

था। वस्त्र बहुत प्रकार के बनते थे। सामाजिक स्थिति में हम भिन्न भिन्न वर्गों के उपयोग के विषय में लिख चुके हैं। भारत में

महीन से महीन मलमल, खीट, शाल दुशाक्षे
व्यवसाय आदि कपड़े बनते थे। कपड़े रँगने की भी

कला यहाँ बहुत उन्नत थी। वनस्पतियों से भी तरह तरह के रंग निकाले जाते थे। यह आविष्कार भी पहले पहल भारतीयों ने ही किया था। नील की खेती तो केवल रंग के लिये ही होती थी। वस्त्र-व्यवसाय तो १८ वीं शताब्दी तक चलता रहा और ईस्ट इंडिया कंपनी के समय में नष्ट हुआ।

लोहे और फौलाद के व्यवसाय की भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई थी। कच्चे लोहे को गलाकर फौलाद बनाना उन्हें प्राचीन

काल से ज्ञात था। खेती आदि के सब प्रकार
लोहा आदि धातुओं के लोहे के औजारों और युद्ध के हथियारों का
का व्यवसाय बनना भारत में प्राचीन काल से चला आता था।

लोहे का यह व्यवसाय इतना अधिक था कि भारत की आवश्यकताओं से बचकर फिनिशिया में जाया करता था। डाक्टर राय ने लिखा है—‘दमिरक के तेज धारवाले औजारों की बड़ी प्रशंसा की जाती है, परंतु यह कला फारस ने भारत से सीखी थी और वहाँ से अरबवालों ने इसका ज्ञान प्राप्त किया*’।

भारत के लोह-व्यवसाय के उत्कर्ष को दिखाने के लिये कुतुब-मीनार के पासवाला लोहस्तम्भ ही पर्याप्त उदाहरण है। इतना विशाल स्तंभ आज भी यूरोप और अमेरिका का कोई बड़े से बड़ा कारखाना गढ़कर नहीं बना सकता। आज उसे देने हुए अनुमान १५०० वर्ष हो गए, सुली हवा तथा वर्षा में रहने पर भी उस पर जंग का नाम नहीं और उसकी कारीगरी भी प्रशंसनीय है।

* हरबिलडस भारडा; हिंदू सुपीरियैरिटी; पृ० ३२५।

धार का जयस्तंभ भी दर्शनीय वस्तु है। यह मुसलमानों के समय में तोड़ा गया था। इसका एक खंड २२ फुट और दूसरा १३ फुट का है। इसका एक छोटा सा तीसरा खंड भी मांडू से मिला है। राजा लोग जयस्तंभ बनवाया करते थे। लोहे के व्यवसाय पर लिखते हुए मिसेज मैनिंग ने लिखा है कि आज भी ग्लासगो और शैफाल्ड में कच्छ से अधिक अच्छा फौलाद नहीं बनता*। लोहे के अतिरिक्त अन्य धातुओं का काम भी बहुत अच्छा था। सोने चाँदी के तरह तरह के पात्र और जेवर बनते थे। पात्रों के लिये अधिकतर ताँबा प्रयुक्त होता था। भाँति भाँति के रत्न काटकर सोने में मढ़े जाते थे। कुछ सुवर्णपात्रों पर ऐसी बौद्ध जातकों अंकित हुई हैं, जिनमें कई पत्र आदि पन्ने, माणिक्य वगैरह रत्नों के बने हुए हैं, और पञ्चाकारी के ढंग से लगे हुए हैं। रत्नों तथा कीमती स्फटिकों की बनी हुई मूर्तियाँ भी देखने में आईं और ऐसी एक स्फटिक मूर्ति तो अनुमान एक फुट ऊँची पाई गई है। पिपरावा के स्तूप में से स्फटिक का बना हुआ छोटे मुँहवाला वर्तुलाकार सुंदरं वर्तन मिला है जिसके ढक्कन पर स्फटिक की सुंदर मछली बनी हुई है। सुवर्ण की बनी हुई कई मूर्तियाँ अब तक विद्यमान हैं। पीतल या सर्वधातु की तरह तरह की विशाल मूर्तियाँ अब तक कई मंदिरों में स्थापित हैं। इससे यह भी अनुमान होता है कि भारत में खानों से धातु निकालने तथा उन्हें साफ करने की विधि प्रचलित थी।

धातुओं के अतिरिक्त काच का भी काम बहुत उत्तम होता था। प्रिन्सी ने भारतीय काच को सबसे उत्तम बताया है। खिड़कियों तथा दरवाजों में भी काच लगते थे और दर्पण काच आदि का व्यवसाय भी बनाए जाते थे। हाथीदाँत और शंख के भी चूड़ियाँ आदि उत्तम पदार्थ बनते थे, उन पर तरह तरह की कारी-

* पेरमंड एंड मीडिएवल इंडिया; जि० २, पृ० ३६४।

गरी का काम होता था। इन कामों के औजार बहुत सूक्ष्म होते थे। स्टेवरिनस (Stavorinus) ने लिखा है कि भारतीय शिल्पी इतने छोटे और सूक्ष्म औजारों से काम करते हैं कि यूरोपियन उनकी सफाई और चतुरता पर आश्चर्यान्वित हो जाते हैं* ।

उद्योग-धंधे के काम बड़े बड़े पूँजीपतियों द्वारा नहीं होते थे। उस समय गणसंस्था (Guilds) का प्रचार था। एक पेशेवाले

अपना सुव्यवस्थित समुदाय बनाते थे। गण

गणसंस्था

के प्रत्येक सभ्य को उसके सब नियम मानने

पड़ते थे। गण, पदार्थ की उत्पत्ति और विक्रय का प्रबंध करता था। गाँवों या जिलों की सभाओं में इनके भी प्रतिनिधि रहते थे, जो देश के व्यवसाय का ध्यान रखते थे। राज्य भी इनके संघ की सत्ता मानता था। केवल व्यवसायी ही गण या श्रेणी नहीं बनाते थे, किंतु कृषकों और व्यापारियों के भी गण बने हुए थे। गौतम, मनु और बृहस्पति (६५० ई०) की स्मृतियों में कृषकों के संघों का उल्लेख है। गढ़ेरियों के संघों का परिचय शिलालेखों से मिलता है। राजेंद्र चोल (११ वीं शताब्दी) के समय दक्षिण भारत के एक गाँव के गढ़ेरियों के गण को ८० भेड़ें इस प्रयोजन से दी गई थीं कि वह एक मंदिर के दीपक के लिये रोज घों दिया करे। एक शिलालेख से पाया जाता है कि विक्रम चोल के समय ५०० व्यापारियों का एक गण था। यह गण-पद्धति बहुत पहले से प्रचलित थी। बौद्ध साहित्य में बहुत बड़े गणों का वर्णन है। गुप्त काल में व्यवसायियों के बहुत से गण विद्यमान थे। ४६५ ई० में तेलियों के एक गण को मंदिर का दिया जलाने का काम सौंपा गया था। इसी तरह कौलिक, गांधिक, धान्यक आदि लोगों के भी गण विद्यमान थे। ये गण बैंक का भी काम करते थे। प्रायः

भारतवर्ष का संपूर्ण व्यापार और व्यवसाय इन्हों गणों के द्वारा होता था* ।

यहाँ कुछ शब्द सिक्कों के विषय में भी कह देना अनुचित न होगा । पहले भारत में द्रव्य-विनिमय (Barter) द्वारा ही व्यापार होता था । दुकानदार भी द्रव्य-विनिमय करके खरीद फरोख्त करते थे ; राज्य की ओर से बहुत से कर्मचारियों को वेतन भी अनाजरूप में मिलता था । सरकार भी अनाज के रूप में भूमिकर लेती थी । इस व्यवस्था के कारण भारत में सिक्के छोड़ी मात्रा में बनते थे । सिक्कों की अधिक आवश्यकता भी न थी । प्रत्येक राजा अपने अपने नाम के सिक्के बनवाता था । सिक्के बहुधा सोने, चाँदी और ताँबे के बनते थे ।

भारत में बहुत प्राचीन काल से सिक्के बनते थे, परंतु उन पर कोई लेख या राजा का नाम नहीं लिखा जाता था, उनका केवल तोल ही निश्चित रहता था । उन पर मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चंद्र, धनुष, बाण, स्तूप, बोधितुम, स्वस्तिक, वज्र, नदी, पर्वत आदि के चित्र तथा अन्य प्रकार के अनेक चिह्न अंकित होते थे । ऐसे सिक्के सोने, चाँदी और ताँबे के होते थे । यह निश्चित नहीं कि ये सिक्के राज्य की ओर से बनते थे अथवा व्यापारी या गण बनाते थे ।

सब से प्राचीन लेखवाले सिक्के ईसवी सन् पूर्व की तीसरी शताब्दी के मिलते हैं, जो मालव-जाति के हैं । इनके पीछे मौर्य, शक, कुशन और चत्रपों के सिक्के मिलते हैं । ये सिक्के अधिक उत्तम और लेखवाले हैं । इनके सिक्के सोने, चाँदी और ताँबे के होते थे । फिर गुप्तकाल में राजाओं ने सिक्कों की तरफ विशेष ध्यान दिया । यही कारण है कि उनके बहुत से सिक्के उपलब्ध होते हैं ।

* दी पोलिटिकल इंस्टिट्यूशंस एंड थ्योरीज आफ दी हिंदूज पृ० ४०-४०

सोने के सिक्के गोल और लेखवाले मिलते हैं और उनमें से कई एक पर कवितावद्ध लेख भी विद्यमान हैं। चाँदी के सिक्कों में गुप्तों ने भी असावधानी कर चित्रों की नकल की। एक तरफ चित्रों जैसा सिर और दूसरी तरफ उनका लेख रहता था। गुप्तों के पीछे छठी शताब्दी में हूणों ने ईरान का खजाना लुटा और वे वहाँ के ससानियन राजाओं के चाँदी के सिक्के हिंदुस्तान में ले आए। वे ही सिक्के राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़, मालवा आदि प्रदेशों में चलने लग गए और पीछे से उन्हीं की भद्दी नकलें यहाँ भी बनने लग गईं, जिनकी कारीगरी और आकार में न्यूनता आते आते अंत में उन पर के राजा के चेहरे की आकृति ऐसी बन गई कि लोग उसको गंधे का खुर मानने लग गए, जिससे वे सिक्के गंधिया नाम से प्रसिद्ध हुए। सातवीं शताब्दी के आसपास से हमारे राजाओं का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ, जिससे राजा हर्ष, गुहिलवंशी, प्रतिहारवंशी, तैवरवंशी, गाहड़वालों, नागवंशी (नरवर के), राष्ट्रकूटों (दक्षिण के), सोलंकियों, यादवों, चौधेय, चौहान (अजमेर और साँभर के), उदभांडपुर (ओहिंद) आदि के हिंदू राजाओं के नामवाले सोने, चाँदी या ताँबे के कितने एक सिक्के मिले हैं, परंतु प्रत्येक राजा के नहीं। इससे सिक्कों के विषय में राजाओं की असावधानी और उपेक्षा प्रतीत होती है। इसी से सोने आदि में मिलावट करनेवालों को तो दंड देने का उल्लेख स्मृतियों में मिलता है, परंतु राजा की आज्ञा के बिना सिक्का बनानेवालों को दंड देने का उल्लेख नहीं मिलता। कभी किसी राजा की प्रिय रानी भी अपने नाम का सिक्का प्रचलित कर देती थी, जैसा अजमेर के चौहान राजा अजयदेव की रानी सोमलदेवी (सोमलेखा) के सिक्कों से पाया जाता है। प्रारंभ में मुसलमानों ने अजमेर का राज्य छीनकर वहाँ के प्रचलित हिंदू सिक्कों की नकल की, परंतु पीछे से उन्होंने अपने स्वतंत्र सिक्के बनाना शुरू किया।

✓ भारतवर्ष कृषि, व्यापार, व्यवसाय और अमूल्य खानों के कारण बहुत समृद्ध था। उस समय खाने पीने की चिंता अधिक नहीं थी।

नागरिक जीवन से भी, जिसका वर्णन हम पहले भारत की आर्थिक स्थिति कर चुके हैं, मालूम होता है कि प्राचीन भारतीय संपन्न और समृद्ध थे। व्यापार में निर्यात के बहुत अधिक होने के कारण भारत की संपत्ति दिन दिन बढ़ती जाती थी। भारतवर्ष में हीरे, नीलम, मोती और पत्थरों की भी कमी नहीं थी। प्रसिद्ध कोहनूर हीरा भी भारत में उस समय विद्यमान था। ध्विनी ने भारतवर्ष को हीरे, मोती आदि कीमती पत्थरों की जननी और मणियों का उत्पादक कहा है। वस्तुतः भारतवर्ष हीरे, लाल, मोती, मूँगे और भाँति भाँति के अन्य रत्नों के लिये प्रसिद्ध था। सोना भी यहाँ बहुत मात्रा में था। लोहा, ताँबा और सीसा भी बहुतायत से निकलता था। अधिकांश चाँदी बाहर से आती थी, इसलिये महँगी रहती थी। प्रारंभ में सोने का मूल्य चाँदी से अठगुना था, जो हमारे निर्दिष्ट काल के अंत में बढ़ता हुआ सोलह गुना तक पहुँच गया।

यह समृद्धि हमारे समय के अंतिम काल तक विद्यमान थी। सोमनाथ के मंदिर में सोने और चाँदी की अनेक रत्नजटित मूर्तियाँ थीं। पास ही २०० मन सोने का साँकल था, जिसके साथ घंटे बँधे होते थे। महमूद गजनवी उसी मंदिर से एक करोड़ रुपयों से अधिक मूल्य की संपत्ति लूट में ले गया था। इसी तरह वह मथुरा और कन्नौज प्रभृति स्थानों से भी अनंत धन-राशि ले गया। यदि भारत की तत्कालीन संपत्ति की जानकारी करनी हो तो उत्तर और दक्षिण भारत के उस समय के बने हुए सैकड़ों भव्य मंदिरों को देखना चाहिए, जिनके कलश, मूर्तियाँ या स्तंभ सोने चाँदी अथवा रत्नों से जटित थे।

शिल्प

तत्त्वज्ञ-कला-संबंधी शिल्प के मुख्य चार विभाग किए जा सकते हैं— गुफा, मंदिर, स्तंभ और प्रतिमा । हमारे यहाँ तत्त्वज्ञकला का विकास विशेषतः धार्मिक भावों से हुआ है ।

स्तूप

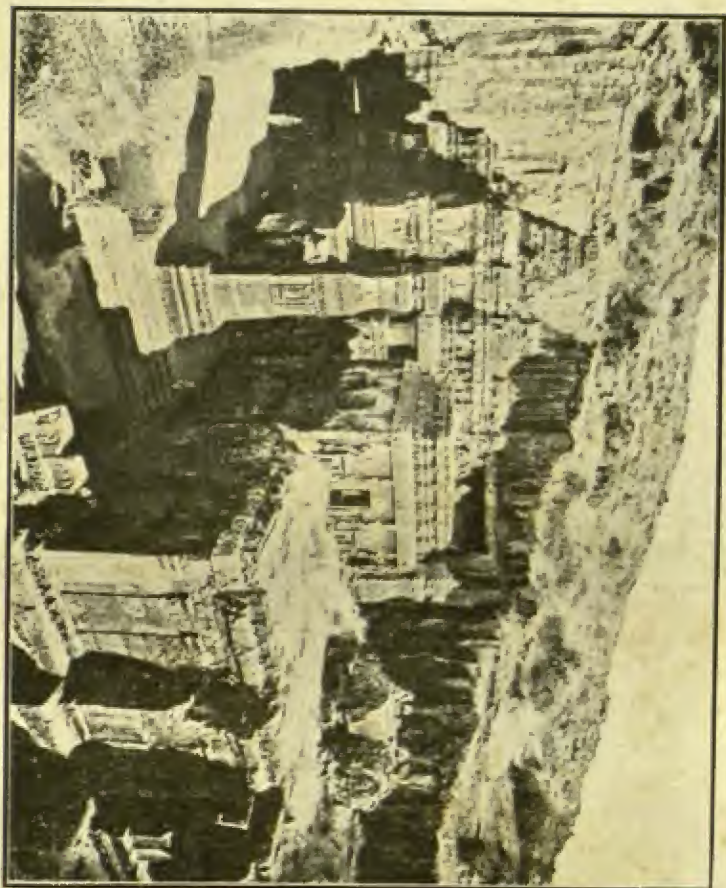
बौद्धस्तूप, चैत्य और विहार आदि शिल्प के सब से प्राचीन सुरक्षित कार्य हैं । महात्मा बुद्ध का निर्वाण होने पर उनका शरीर जलाया गया और उनकी हड्डियों आदि पर भिन्न भिन्न जाति के लोगों ने स्तूप बनवाना शुरू किया, जो बौद्धों में बहुत ही पूजनीय समझे जाने लगे; पीछे से बड़े सुंदर कामवाले कई स्तूप बने । स्तूप एक मंदिर की तरह पूजनीय समझा जाता था और उसके चारों तरफ सुंदर कारीगरीवाले विशाल द्वार, तोरण आदि बनाए जाते थे और ऐसे ही कामवाली वेष्टनी (Railings) से वे चारों तरफ से अलंकृत किए जाते थे । ऐसे स्तूपों में साँची और भरहुत के स्तूप मुख्य हैं, जो ई० सन् के पूर्व की तीसरी और दूसरी शताब्दी के आसपास के हैं । अब तक इन पर बौद्धधर्म के पूजनीय चिह्न—धर्मचक्र, बोधिवृक्ष, हाथी आदि—तथा बुद्ध के पूर्वजन्म की भिन्न भिन्न कथाएँ बड़ी सुंदरता के साथ पत्थरों पर उभरी हुई अंकित हैं ।

हमारे यहाँ पहाड़ों को काट काटकर बनाई हुई दो प्रकार की भव्य गुफाएँ—चैत्य और विहार—हैं । चैत्य के भीतर एक स्तूप

गुफाएँ

होता है और जन-समाज के एकत्र होने के लिये विशाल भवन (Assembly Hall) होता है ।

ऐसी गुफाओं में काली आदि कई गुफाओं का उल्लेख किया जा सकता है । विहार अर्थात् मठ में साधु-भिक्षुओं के रहने के लिये अलग अलग कमरे बने हुए होते हैं । ऐसी गुफाएँ विशेषतः दक्षिण में मिलती हैं, जिनमें से अजंठा, इलोरा, काली, भाजा, वेड़सा आदि मुख्य हैं । दक्षिण के अतिरिक्त काठियावाड़ में जुनागढ़ के



(१८) इलोरा का पर्वतीय कैलास मंदिर







(१६) द्रविड़ शैली के मंदिर का धर्मराज पथ
[मामल्लपुरम्]

पास, राजपूताने में भालावाड़ राज्य में, कोलवी, और मध्य भारत में धमणार, बाघ आदि में ऐसे स्थान हैं। काली आदि कितनी एक भव्य गुफाओं की कटाई की सुंदरता देखकर दर्शक मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते। ऐसी गुफाओं में से अधिकतर बौद्ध हैं, और बोड़ी सी जैन या वैदिक मत से संबंध रखती हैं। इनमें से अधिकांश गुफाएँ हमारे समय से पूर्व की हैं, परंतु अजंटा की कुछ गुफाएँ, तथा कोलवी, धमणार एवं बाघ आदि की हमारे समय के प्रारंभकाल की हैं। इनमें से कई एक गुफाएँ भारतीय तत्त्व-कला के सर्वोत्तम नमूने हैं और उनकी प्रशंसा अनेक विद्वानों ने मुक्तकंठ से की है।

ईसवी सन की सातवीं शताब्दी के आसपास से बारहवीं शताब्दी तक सैकड़ों जैनों और वेदधर्मावलंबियों अर्थात् ब्राह्मणों के मंदिर अब तक किसी न किसी दशा में विश-

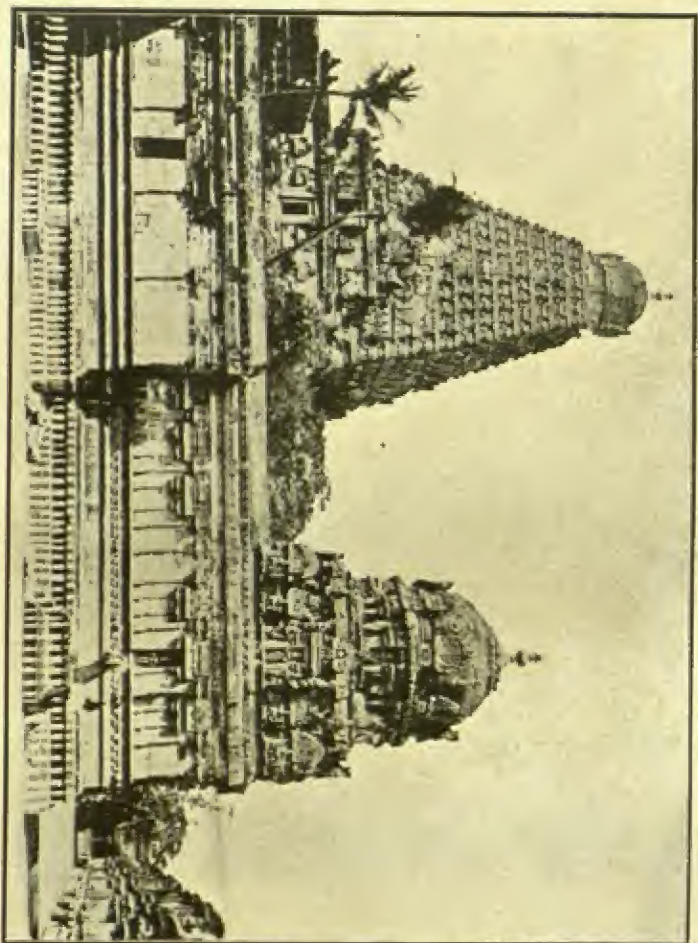
मंदिर

मान हैं। देश-भेद के अनुसार इन मंदिरों

की शैली में भी अंतर है। कृष्णा नदी के उत्तर से लेकर सारे उत्तरीय भारत के मंदिर आर्य-शैली के हैं और उक्त नदी से दक्षिण के द्रविड़ शैली के। जैनों और ब्राह्मणों के मंदिरों की रचना में बहुत कुछ साम्य है। अंतर इतना ही है कि जैन मंदिरों के स्तंभों, छतों आदि में बहुधा जैनों से संबंध रखनेवाली मूर्तियाँ तथा कथाएँ खुदी हुई पाई जाती हैं और ब्राह्मणों के मंदिरों में उनके धर्म संबंधी। बहुधा जैनों के मुख्य मंदिर के चारों ओर छोटी छोटी देव-कुलिकाएँ बनी रहती हैं, जिनमें भिन्न भिन्न तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं। ब्राह्मणों के मुख्य मंदिर के साथ कहीं कहीं कोनों में चार और छोटे मंदिर होते हैं। ऐसे मंदिरों को पंचायतन मंदिर कहते हैं। ब्राह्मणों के मंदिरों में विशेषकर गर्भगृह (निज मंदिर) रहता है, जहाँ मूर्ति स्थापित होती है और उसके आगे मंडप। जैन मंदिरों में कहीं कहीं दो मंडप और एक विस्तृत

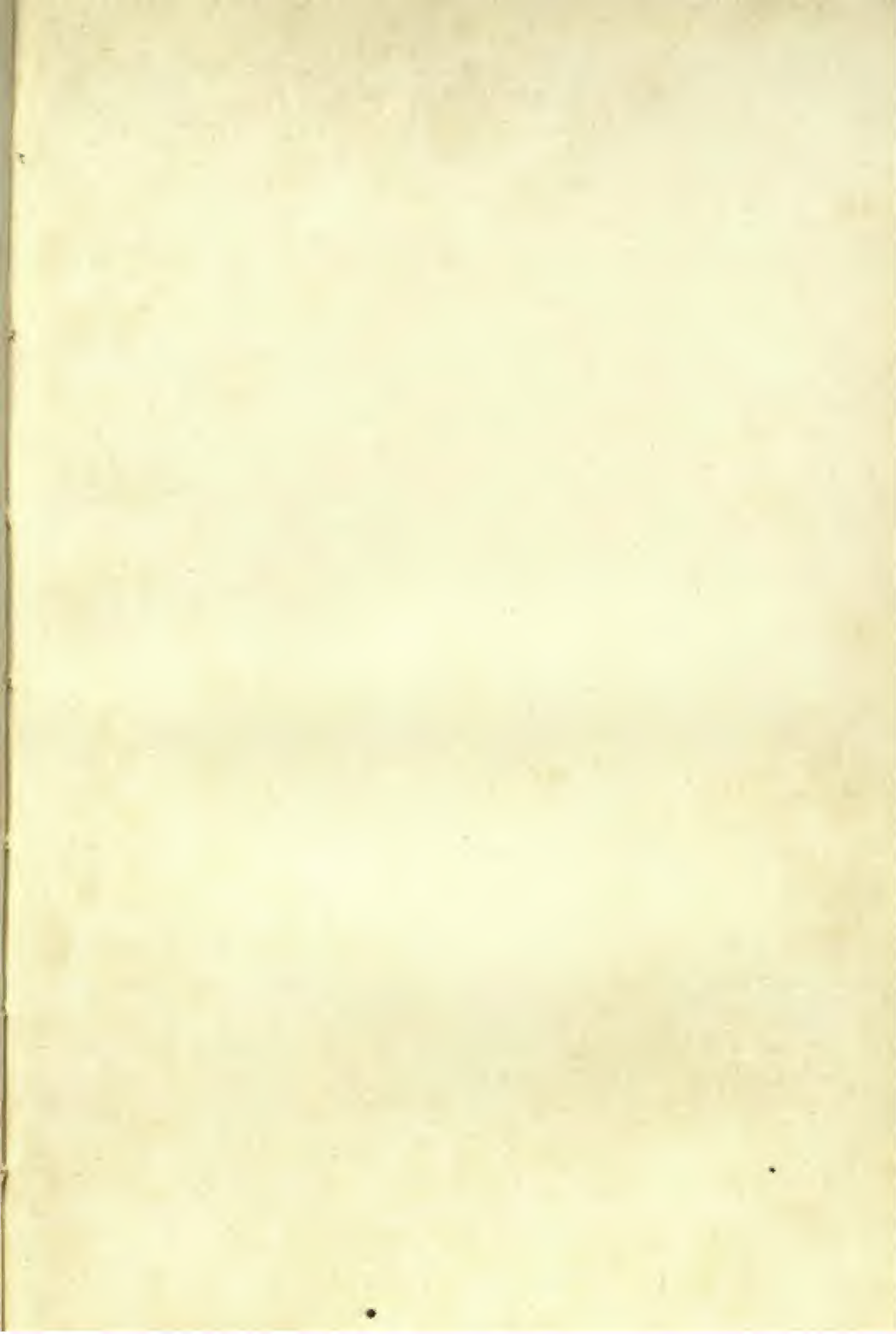
वेदी भी होती है। दोनों शैली के मंदिरों में गर्भगृह के ऊपर शिखर और उसके सर्वोच्च भाग पर आमलक नाम का बड़ा चक्र होता है। आमलक के ऊपर कलश रहता है, और वही ध्वज-दंड भी होता है।

द्रविड़ शैली के कुछ मंदिरों में, जहाँ मुख्य मूर्ति स्थापित होती है उसके ऊपर, चतुरस्र आकृति का विमान नामक कई मंजिलों का ऊँचा मंडप रहता है। वह ज्यों ज्यों ऊँचा होता जाता है, त्यों त्यों उसका फैलाव कम होता जाता है और ऊपर जाकर छोटा सा रह जाता है। वस्तुतः इस विमान का ऊपरी विभाग चतुरस्र शंकु जैसी आकृति का होता है। इन विमानों को आर्य-शैली के मंदिरों के शिखर के स्थानापन्न समझना चाहिए। गर्भगृह के आगे मंडप या अनेक स्तंभोंवाले विस्तृत स्थान होते हैं और मंदिर के प्राकार के एक या अधिक द्वारों पर एक बहुत ऊँचा अनेक देवी देवताओं की मूर्ति-वाला गोपुर रहता है जिसे 'कोयल' कहते हैं। उत्तरी भारत में पुष्कर वृंदावन आदि तीर्थ स्थानों में रंगजी आदि के नए बने हुए मंदिर ठोक द्रविड़ शैली के हैं। दक्षिण के पूर्वी और पश्चिमी सोलंकी राजाओं के समय के बने हुए देवमंदिर बहुधा द्रविड़ शैली के हैं, परंतु उनमें उक्त शैली से थोड़ा सा अंतर होने के कारण आधुनिक विद्वान् उनका परिचय चालुक्य शैली के नाम से देते हैं। पश्चिमी भारत के कारीगर भी उनके बनाने में लगाए गए थे जिससे उनकी द्रविड़ शैली में कुछ उत्तरी शैली का मिश्रण हो गया है। इस शैली के मंदिर आदि बंबई हाते के दक्षिणी विभाग अर्थात् कनड़ा प्रदेशों में धारवाड़ से लेकर निजाम और मैसूर राज्य तक, जहाँ चालुक्यों का राज्य रहा, जगह जगह मिलते हैं। नेपाल के शैव और वैष्णव मंदिर उत्तर भारत की शैली के हैं और कुछ मंदिर चीनी शैली के छज्जेदार और कई मंजिलवाले भी हैं।



(२०) वरुपक्षु मंदिर का हिंदू मंदिर
(तंजोर)







(२१) होयसलेश्वर के मंदिर का बाहरी पार्श्व
[हल्लेविड]

हमारे समय के भिन्न भिन्न शैलियों के सुंदर मंदिर सैकड़ों स्थानों पर विद्यमान हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है।

आर्य शैली के ब्राह्मणों के मंदिर भुवनेश्वर (उड़ीसा में), नागदा और बाड़ोली* (दोनों उदयपुर राज्य में), चित्तोड़गढ़, ग्वालियर, चंद्रावती (भालाबाड़ राज्य में), ओसियाँ (जोधपुर राज्य में), चंद्रावती, वर्माण (दोनों सिरोही राज्य में), खजुराहो (मध्य-भारत में), कनारक, लिंगराज (उड़ीसा में) आदि अनेक स्थानों में हैं। इसी तरह ब्राह्म, खजुराहो, नागदा, मुक्तगिरि और पालीताना आदि स्थानों के जैन मंदिर भारतीय शिल्पकला के उत्तम नमूने हैं। द्रविड़ शैली के मामलपुर (महाबलिपुरम्—चिंगलीपट्ट जिले में), काजीवरम् (कांच), इलोरा, तंजोर, वेलूर (मैसूर के हुसन जिले में), वादामी (बीजापुर जिले में), श्रीरंगम् (त्रिचनापली में) और श्रवणबैलगोला (हुसन जिले में) आदि स्थानों में हैं।

ये मंदिर शिल्प की दृष्टि से कितने उत्तम हैं, यह कुछ विद्वानों के निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा।

बाड़ोली के मंदिर की तच्छण-कला की प्रशंसा करते हुए कर्नल टॉड ने लिखा है—‘उसकी विचित्र और भव्य रचना का यथावत् वर्णन करना लेखनी की शक्ति से बाहर है। यहाँ मानो हुनर का खजाना खाली कर दिया गया है। उसके स्तंभ, छत और शिखर का एक एक पत्थर छोटे से मंदिर का दृश्य बतलाता है। प्रत्येक स्तंभ पर खुदाई का काम इतना सुंदर और बारीकी के साथ किया गया है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता*।’ भारतीय शिल्प के प्रसिद्ध विद्वान् मिः फर्गुसन लिखते हैं—‘ब्राह्म के मंदिरों में, जो संगमरमर के बने हुए हैं, अत्यंत परिश्रम सहन करनेवाली हिंदुओं की टाँकी से कीते जैसी बारीकी के साथ ऐसी मनोहर आकृतियाँ

* टॉड; राजस्थान; जिल्द ३, पृ० १७२२—२३ (आक्सफोर्ड संस्करण)।

बनाई गई हैं कि उनकी नकल कागज पर बनाने में कितने ही समय तथा परिश्रम से भी मैं सफल नहीं हो सका* ।

हैलेविड के मंदिर के विषय में विंसेंट स्मिथ ने लिखा है—‘यह मंदिर धैर्यशील मानव-जाति के श्रम का अत्यंत आश्चर्यजनक नमूना है । इसकी सुंदर कारीगरी के काम को देखते देखते आँखें तृप्त नहीं होती।’ इसी मंदिर के विषय में प्रोफेसर ए० ए० मेकडानल का कथन है कि संसार भर में शायद दूसरा कोई ऐसा मंदिर न होगा, जिसके बाहरी भाग में ऐसा अद्भुत खुदाई का काम किया गया हो । नीचे की चौतरफ हाथियोंवाली पंक्ति (गजधर) में दो हजार हाथी बनाए गए हैं, जिनमें से आकृति में कोई भी दो परस्पर नहीं मिलते† ।

मथुरा के प्राचीन मंदिरों के, जो अब नष्ट हो चुके हैं, विषय में महमूद गजनवी ने गजनी के हाकिम को लिखा था कि यहाँ (मथुरा में) असंख्य मंदिरों के अतिरिक्त १००० प्रासाद मुसलमानों के ईमान के सदृश दृढ़ हैं । उनमें से कई तो संगमरमर के बने हुए हैं, जिनके बनाने में करोड़ों दीनार खर्च हुए होंगे । ऐसी इमारतें यदि २०० वर्ष लगे तो भी नहीं बन सकती‡ ।

दिल्ली, प्रयाग, सारनाथ आदि के अशोक-स्तंभ भारतीय शिल्प के उपलब्ध स्तंभों में सबसे प्राचीन हैं । ये बृहन्नाथ स्तंभ एक ही पत्थर से काटे गए हैं और उन पर पालिश

स्तंभ

इतना सुंदर हुआ है कि वह आज तक अधिकांश

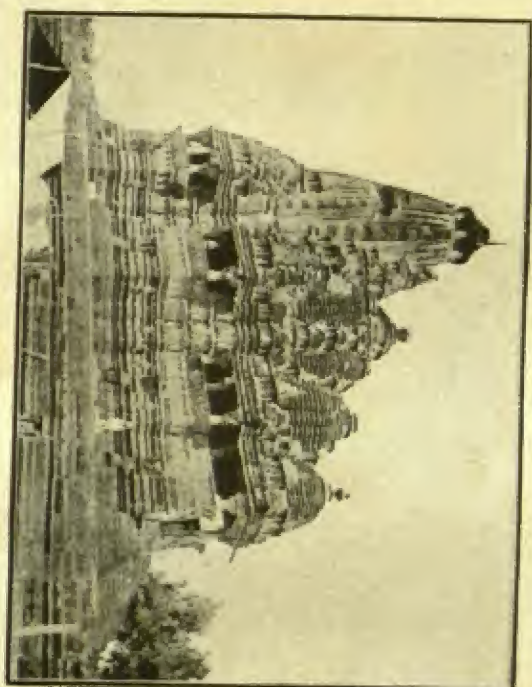
में विद्यमान है और आजकल ऐसे पाषाणों पर ऐसा सुंदर पालिश

० पिक्चरस इलस्ट्रेशंस ऑफ प्रैक्टिकल आर्किटेक्चर इन हिंदुस्तान ।

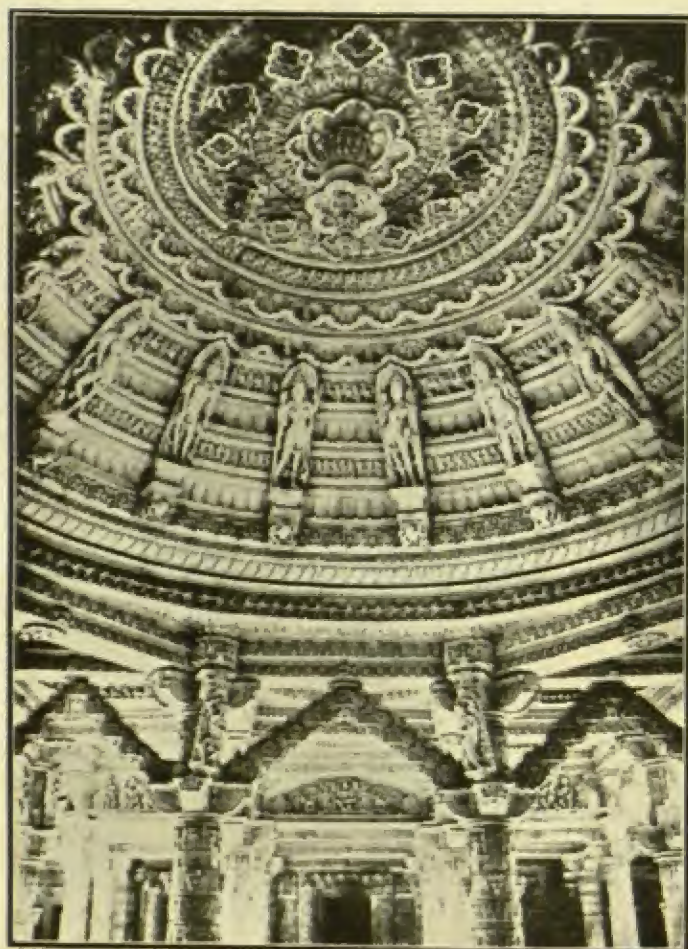
† हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इंडिया, पृ० ४२ ।

‡ इंडियन पास्ड; पृ० ८३ ।

§ जिम; फिनिश; जि० १, पृ० १८—१९ ।



(३५) आर्य शैली का हिंदू मंदिर
[खजुराहो]



(२३) आषोक के जैन मंदिर का गुंबज और द्वार





(२४) वडनगर (गुजरात) के मंदिर का तोरण

होना असंभव सा है। इन स्तंभों के ऊपर सुंदर कारीगरीवाले सिरें लगे हुए थे, जिनके अप्र भाग पर कहीं एक शेर और कहीं चार शेर आदि बने हुए थे। ऐसे दो तीन सिरें अब तक विद्यमान हैं, जो उस समय की उन्नत कला के साक्षी रूप हैं। अशोक के पीछे बेसनगर का प्रसिद्ध स्तंभ, महरौली (दिश्राँ से १३ मील) वाला प्रसिद्ध लोह स्तंभ और दूसरे कई एक स्तंभ हैं, जो हमारे निर्दिष्ट काल के पूर्व के हैं। हमारे समय के स्तंभों में राजा यशोधर्मन के मंदसोर के निकटवर्ती सौंदनी गाँववाले दो विशाल स्तंभ हैं, जो उक्त राजा की विजय के स्मारक हैं। ये विशाल स्तंभ एक ही पत्थर से नहीं काटे गए, किंतु अलग अलग विभागों से बने हैं, जो एक दूसरे पर जमा दिए गए हैं। इस समय वे खड़े नहीं, किंतु धरा-शायी हो रहे हैं। यशोधर्म के स्तंभों के अतिरिक्त भिन्न भिन्न स्थानों पर कई मंदिरों के आगे खड़े किए हुए अथवा मंदिरादि में लगे हुए भिन्न भिन्न शैली के हजारों स्तंभ या तोरण विद्यमान हैं, जिनकी कारीगरी का अनुमान उन्हें देखने से ही हो सकता है।

बड़ी बड़ी मूर्तियों के होने का सबसे प्राचीन प्रमाण कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में मिलता है, परंतु उपलब्ध मूर्तियों में सबसे प्राचीन मूर्तियाँ 'यूसफजई' अर्थात् गांधार से मिली हुई बुद्ध की भिन्न भिन्न कद की मूर्तियाँ तथा मधुरा के कंकाली टीलेवाली जैन मूर्तियाँ एवं राजा कनिष्क आदि की मूर्तियाँ हैं। ये सब ई० सन् की पहली शताब्दी के आसपास की हैं। हिंदुओं के भागवत संप्रदाय के विष्णु मंदिर ई० सन् पूर्व की दूसरी शताब्दी में विद्यमान थे, ऐसा बेसनगर (विदिशा) तथा नगरी (मध्यमिका, चित्तोड़ से सात मील उत्तर में) के शिलालेखों से निश्चित है। बेसनगर के उक्त विशाल स्तंभ पर के शिलालेख से पाया जाता है कि "राजा ऐंटियाक्लिडिस के समय में तत्तशिला

(पंजाब) नगर के रहनेवाले दिय (Dion) के पुत्र हेलियोदोर (Heliodoros) ने, जो भागवत (वैष्णव) था, देवताओं के देवता वासुदेव (विष्णु) का यह 'गरुडध्वज' बनवाया ।" अश्वमेध यज्ञ करनेवाले पाराशरी-पुत्र सर्वतात ने नारायणवट नामक स्थान पर भगवान् संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिये शिला-प्राकार बनवाया, ऐसा ई० स० पूर्व की दूसरी शताब्दी के नगरी के अपूर्ण शिलालेख से पाया जाता है। बौद्धों में मूर्तिपूजा का प्रचार महायान संप्रदाय के साथ ईस्वी सन् की पहली शताब्दी के आस-पास होना पाया जाता है, परन्तु मूर्तिपूजा के उपर्युक्त दोनों उदाहरण ईसा से पूर्व के हैं। इसी तरह ई० सन् की छठी शताब्दी तक की सैकड़ों मूर्तियाँ मिली हैं, जिनका संबंध हमारे निर्दिष्ट समय से नहीं है। हमारे समय की हजारों हिंदू और जैन देवमूर्तियाँ मिलती हैं और कलकत्ता, लखनऊ, पेशावर, अजमेर, मद्रास, बंबई आदि के अद्भुतालये तथा स्थान स्थान के मंदिरों आदि में विद्यमान हैं। ऐसे ही कई एक राजाओं की और धर्माचार्यों की मूर्तियाँ भी मिलती हैं। अत्यंत भावपूर्ण और सुंदर कारीगरी को देखकर इनमें से बहुत सी मूर्तियों की अनेक विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है, परन्तु यह बात निश्चित है कि ई० सन् की बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पाषाण के शिल्प-कार्य में क्रमशः हास होता गया और मूर्तियाँ तथा खुदाई का काम जैसा सुंदर पहले बनता था, वैसा पिछले समय में न बन सका।

भारतीय शिल्पकला के संबंध में यहाँ कुछ विद्वानों के कथन उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा।

मिस्टर हैवेल ने लिखा है—“किसी भी जाति के शिल्प का ठोक ठोक अनुमान करने में उस जाति ने दूसरों से क्या सीखा है, यह सोचने की हमें आवश्यकता नहीं, किंतु यह सोचने की आव-

शक्यता है कि उसने अन्य जातियों को क्या सिखलाया है। इस दृष्टि से देखने से भारतीय शिल्पकला का स्थान यूरोप और एशिया की सब शैलियों में सर्वोच्च है। पुरातत्त्वान्वेषण की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि शिल्प की कोई भी शैली न तो सर्वथा स्वदेशी है और न ऐसी है, जिसमें दूसरों से कुछ सीखने की आवश्यकता न हुई हो। ग्रीस और इटली की शिल्प-शैलियाँ भी इस नियम का अपवाद नहीं हैं। भारत ने जो कुछ बाहरवालों से सीखा है उससे सौ गुना बाहरवालों को सिखलाया है*।†

मि० ग्रिफ़िथ का कथन है—‘गुफाओं का दीर्घ काल तक निरीक्षण करने पर ऐसा कहीं भी भेरे देखने में नहीं आया कि कारीगर ने पत्थर को आवश्यकता से कुछ भी अधिक काटा हो।’

प्रोफ़ेसर हार्त लिखते हैं—‘चतुरस्र स्तंभों पर की खुदाई के काम और स्त्री की आकृतिवाले स्तंभों के बनाने में हिंदू लोग ग्रीस और मिश्रवालों से बहुत बड़े चढ़े थे।’ इसी तरह हैबल ने लिखा है—‘भारतीय शिल्प की मूर्ति में प्रदर्शित जो गहराई तथा आंतरिक भाव दीख पड़ते हैं, वे ग्रीस में नहीं पाए जाते§।’

हमारे समय में वास्तुविद्या का बहुत विकास हो चुका था। इस विषय के कई ग्रंथ आज भी उपलब्ध हैं। अभी कुछ ही समय

हुआ राजा भोज का बनाया हुआ ‘समरांगण-
वास्तु विद्या की सूत्रधार’ नामक एक अत्यंत उत्कृष्ट तथा महत्त्व-
उन्नति पूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक से
जान पड़ता है कि हमारे समय तक आश्चर्यजनक वैज्ञानिक उन्नति

* हैबल; इंडियन स्कल्प्चर एंड पेंटिंग; पृ० १६६।

† दी पेंटिंग्स इन दी बुद्धिस्ट केव डैपल्स ऑफ़ अजंटा।

‡ हरबिलास सारदा; हिंदू सुपीरिवायिटी; पृ० ३४३।

§ हैबल; इंडियन स्कल्प्चर एंड पेंटिंग, पृ० १७४।

हो चुकी थी । इस ग्रंथ में नगर, दुर्ग आदि के लिये उचित भूमि का वर्णन, शहर बसाने, उसके चारों ओर खाई बनाने, राजाओं के भिन्न भिन्न प्रकार के महल, उद्यान तथा मूर्तियाँ आदि बनाने का विस्तृत और महत्त्वपूर्ण वर्णन है, जो हम यहाँ विस्तार भय से नहीं करते ।

उक्त पुस्तक का ३१ वाँ अध्याय—यंत्राध्याय—बहुत महत्त्वपूर्ण है । उसमें भिन्न भिन्न प्रकार के बहुत से यंत्रों का वर्णन है । उनमें से हम कुछ का उल्लेख नीचे करते हैं—

यंत्र द्वारा सूर्य की प्रदक्षिणा और ग्रहों की गति बताई जाय । कृत्रिम पुरुष यंत्र द्वारा परस्पर लड़ते, चलते फिरते और बंसी बजाते थे । स्वयं पक्षियों की सी आवाज करनेवाले लकड़ी के पक्षियों और कंकणों तथा कुंडलों के बनाने का भी उसमें उल्लेख है । लकड़ी के ऐसे मनुष्य बनाए जायें, जो गुप्त रूप से सूत्र-द्वारा नृत्य करें, परस्पर लड़ें और चोरों को पीटें । भिन्न भिन्न प्रकार के सुंदर फव्वारे बनाकर धारागृहों में लगाए जायें । एक ऐसी स्त्री बनाई जाय, जिसके स्तनों, नाभि, आँखों और नसों से जलधाराएँ बहें । यंत्रों से शतघ्नी और उष्ट्रघ्नीव आदि दुर्गरक्षक अस्त्र चलाए जायें । कृत्रिम भरने भी वागों में बनाए जायें । आधुनिक 'लिफ्ट' जैसे यंत्र का भी वर्णन उसमें है, जिसके द्वारा एक मंजिल से दूसरी मंजिल में जाया जाता था । दिए की एक ऐसी पुतली बनाई जाय, जो दीपक में तेल घट जाने पर उसमें तेल डाल दे और स्वयं ताल की गति से नाचे । एक ऐसे यांत्रिक हाथी का भी वर्णन है, जो पानी पीता जाय, परंतु यह मालूम न हो कि पानी कहाँ जाता है । इस प्रकार के कई अद्भुत अद्भुत यंत्रों का वर्णन उसमें मिलता है, परंतु सबसे अधिक आश्चर्यप्रद और महत्त्वपूर्ण बात

आकाश में चलनेवाले 'विमान' का वर्णन है। उसमें विमान के विषय में लिखा है कि महाविहंग नाम की लकड़ों का विमान बनाया जाय, उसमें रसयंत्र रखा जाय, जिसके नीचे आग से भरा हुआ अवलनाधार हो। उसमें बैठा हुआ पुरुष पारे की शक्ति से आकाश में उड़ता है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि ग्यारहवीं सदी में इन यंत्रों का बनाना ज्ञात था, परंतु सर्व साधारण में इसका प्रचार न था। इतना वर्णन करते हुए इस ग्रंथ का कर्ता लिखता है कि हमें बहुत से अन्य यंत्रों का बनाना भी मालूम है, परंतु उनका बताना फल-प्रद नहीं है, इसलिये उनका वर्णन नहीं लिखा। इस ग्रंथ से तत्कालीन वैज्ञानिक और शिल्प-साहित्य पर बहुत प्रकाश पड़ता है। इस विषय की बहुत सी पुस्तकों का निर्देश हम वार्ता के प्रसंग में कर चुके हैं।

चित्रकला

भारतवर्ष जैसे उष्णप्रधान देश में कागज या कपड़े पर खिंचे हुए चित्र अधिक काल तक नहीं रह सकते, इसी से ई० स० १२०० तक के ऐसे चित्र यहाँ नहीं मिलते। कितनी गुफाओं के चित्र एक पुस्तकों में विषय-सूचक सुंदर चित्र अवश्य मिलते हैं, परंतु वे सब हमारे निर्दिष्ट काल के पीछे के हैं। उक्त काल के रंगीन चित्र केवल पहाड़ों को खोद खोदकर बनाई हुई सुंदर विशाल गुफाओं की दीवारों पर हो पाए जाते हैं। वे ही हमारे उक्त काल और उससे पूर्व की चित्रकला के बचे खूबे चिह्न मात्र हैं। ऐसी अब तक चार गुफाओं का पता लगा है, जिनमें चित्रकला की दृष्टि से अजंटा की गुफाएँ सब से अधिक महत्त्व की हैं। ये गुफाएँ हैदराबाद राज्य के औरंगाबाद जिले के अजंटा गाँव से पश्चिमोत्तर

में चार मील दूर स्थित पर्वत-श्रेणी में खुदी हुई हैं। इनमें २४ विहार (मठ) और ५ चैत्य (स्तूपवाले विशाल भवन) बने हैं, जिनमें से तेरह में दीवारों, भीतरी छतों, या स्तंभों पर चित्र अंकित किए गए हैं। चित्र-लेखन से पूर्व चट्टान की भित्ति पर एक प्रकार का प्लास्टर लगाकर चूने जैसे किसी पदार्थ की घुटाई की गई है, और उसपर चित्र अंकित किए गए हैं। ये सब गुफाएँ एक समय की कटी हुई नहीं, किंतु अनुमानतः ईसवी सन् की चौथी शताब्दी से लगाकर सातवीं शताब्दी के आसपास तक समय समय पर बनी हैं। इनके अंतर्गत भिन्न भिन्न चित्रों के विषय में भी यही समय समझना चाहिए। कई एक चित्र हमारे व्याख्यान के पूर्ववर्ती काल के होने से उस समय की भारतीय चित्रकला का परिचय देते हैं। अधिकतर चित्र हमारे निर्दिष्ट काल या उससे कुछ ही पूर्ववर्ती समय के हैं। इन चित्रों से उक्त काल की हमारी चित्रकला का परिचय मिलता है। उनमें गौतम बुद्ध की जीवन-घटनाएँ, मातृपोषक जातक, विश्वांतर जातक, पद्मावत जातक, रुद्र जातक और महाहंस जातक आदि १२ जातकों में वर्णित गौतम बुद्ध की पूर्व जन्म की कथाएँ, धार्मिक इतिहास तथा युद्ध के दृश्य और राजकीय तथा लौकिक चित्र अंकित हैं। ऐसे ही बगीचों, जंगलों, रथों, राज-दरबारों, घोड़े, हाथी, हरिण आदि पशुओं, हंस आदि पक्षियों तथा कमल आदि पुष्पों के अनेक चित्रण बने हुए हैं। इन सबको देखने से दर्शक की आँखों के सामने एक ऐसे नाटक का सा दृश्य उपस्थित हो जाता है, जिसमें जंगलों, शहरों, बगीचों और राजमहलों आदि स्थानों में राजा, वीर पुरुष, तपस्वी, प्रत्येक स्थिति के ली पुरुष और स्त्रीय दूत, गंधर्व, अप्सरा और किन्नर आदि पात्र रूप से हैं। ऐसे सैकड़ों चित्रों में से एक चित्र का परिचय इस अभिप्राय से दिया जाता है कि उनमें से कुछ चित्रों का काल-निर्णय करने में

सहायता मिल सके। तबरी नामक ऐतिहासिक अपनी पुस्तक में लिखता है कि ईरान के बादशाह खुसरो (दूसरे) के सन् जुलूस (राज्यवर्ष) छत्तीस (ई० स० ६२६) में उसका एलूची राजा पुलकेशी के पास पत्र और तुहफा लेकर गया और पुलकेशी का एलूची पत्र और उपहार लेकर उसके पास पहुँचा था। उस समय के दरबार का चित्र एक गुफा की दीवार पर अंकित है जिसमें—

राजा गद्दी बिछे हुए सिंहासन पर लंब-गोलाकृतिक तकिए के सहारे बैठा हुआ है, आसपास चँवर और पंखा करनेवाली स्त्रियाँ, तथा अन्य परिचारक स्त्री पुरुष, कोई खड़े और कोई बैठे हुए हैं। राजा के सम्मुख बाईं ओर तीन पुरुष और एक लड़का सुंदर मोतियों के आभूषण पहिने हुए बैठे हैं (जो राजा के कुँवर, भाई या अमात्यवर्ग में से होने चाहिएँ)। राजा अपना दाहिना हाथ उठाकर ईरानी एलूची से कुछ कह रहा है। उस (राजा) के सिर पर मुकुट, गले में बड़े बड़े मोती व माणिक की इकलड़ी कंठी, और उसके नीचे सुंदर जड़ाऊ कंठा है। दोनों हाथों में भुजबंध और कड़े हैं। यज्ञोपवीत के स्थान पर पचलड़ी मोतियों की माला है, जिसमें प्रवर (ग्रंथि) के स्थान पर पाँच बड़े मोती हैं, और कमर में रत्नजडित मेखला है। पोशाक में आधी जाँघ तक कछनी और बाकी सारा शरीर नंगा है। दक्षिणी लोग जैसे समेटकर दुपट्टा गले में डालते हैं, उसी प्रकार समेटा हुआ केवल एक दुपट्टा कंधे से हटकर पीछे के तकिए पर पड़ा हुआ है और उसके दोनों समेटे हुए किनारे गद्दी के आगे पड़े हुए दीखते हैं। उसका शरीर प्रचंड, पुष्ट और गौरवर्ण है (चेहरे के स्थान का चूना उखड़ जाने से वह नहीं दीख सकता)। दरबार में जितने हिंदुस्तानी पुरुष हैं उनके शरीर पर आधी जाँघ तक कछनी के सिवा कोई वस्त्र नहीं दीखता और न किसी के दाढ़ी या मूँछ हैं। कमर से लगाकर आधी जाँघ या कुछ

नीचे तक का स्त्रियों के शरीर का हिस्सा वस्त्र से ढका हुआ है, और किसी किसी के स्तनों पर कपड़े की पट्टी बँधी हुई है, बाकी सारा शरीर खुला है। यहाँ के प्राचीन चित्रादि में स्त्रियों के स्तन बहुधा खुले हुए पाए जाते हैं, या कभी कभी उन पर पट्टियाँ बँधी हुई देख पड़ती हैं। पट्टियाँ बाँधने का रिवाज प्राचीन है। श्रीमद्भागवत में भी उसका वर्णन मिलता है—

तदंगसंगप्रमुदाकुलेंद्रियाः केरान्दुकूलं कुचपट्टिकां वा ।

नाजः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो विस्रस्तमालाभरणाः कुरुद्वह *।

राजा की तरफ एक टक दृष्टि लगाकर हाथ में ली हुई मोतियों की कई लठ्ठें या कई लड़वाली कंठी नजर करता हुआ ईरानी एलूची सम्मुख खड़ा है, जिससे राजा कुछ कह रहा है। उसके पीछे एक दूसरा ईरानी हाथ में बातल सी कोई चीज लिए खड़ा है, जिसके पीछे तीसरा ईरानी तुहफे की चीजों से भरी हुई किरती धरे हुए है। उसके पीछे पीठ फेरकर खड़ा हुआ चौथा ईरानी बाहर से हाथ में कुछ चीज लेकर दरवाजे में आते हुए एक दूसरे ईरानी की तरफ देख रहा है और उसके पास एक ईरानी सिपाही कमर में तलवार लगाए खड़ा है और दरवाजे के बाहर ईरानियों के साथ के अन्य पुरुष और बड़े खड़े हैं। ईरानियों और हिंदुस्तानियों की पोशाक में रात दिन का सा अंतर है। जब हिंदुस्तानियों का करीब करीब सारा शरीर खुला है तो उनका प्रायः सारा ढका हुआ है। उनके सिर पर ऊँचो ईरानी टोपी, कमर तक अँगरखा, चुस्त पायजामा और कई एक के पैरों में मोजे भी हैं और दाढ़ी-मूँछ सबके हैं। ईरानी एलूची (जिससे राजा कुछ कह रहा है) के गले में बड़े बड़े मोतियों की एक लड़ी, पानदार कंठी, कानों में लटकते हुए मोतियों के भूषण और कमर में मोतियों से जड़ी हुई कमरपेटी है। दूसरे किसी ईरानी के

शरीर पर जेवर नहीं है। दरबार में सब जगह फर्श पर पुष्प बिखरे हुए हैं। राजा के सिंहासन के आगे पीकदानी पड़ी हुई है और चौकियों पर ढक्कनवाले पानदान आदि पात्र रखे हुए हैं* ।” इस चित्र से अनुमान होता है कि यह ई० स० ६२६ के बाद बना होगा।

अजंटा के चित्र चित्रकला में प्रवीण आचार्यों के हाथ से खिंचे हुए हैं। उनमें अनेक प्रकार का अंग-विन्यास, मुख-मुद्रा, भाव-भंगी और अंग-प्रत्यंगों की सुंदरता, नाना प्रकार के केशपाश, वस्त्राभरण, चेहरों के रंग रूप आदि बहुत उत्तमता से बतलाए गए हैं। इसी तरह पशु, पक्षी, पत्र पुष्प आदि के चित्र बहुत सुंदर हैं। कई चित्र ऐसे भावपूर्ण हैं कि उनमें चित्रित स्त्री पुरुषों की मानसिक दशा का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन होता है। भिन्न भिन्न प्रकार के रंग और उनके मिश्रण में कमाल किया गया है। चित्रण इतना प्रशस्त और नियमित है कि प्रकृति और सौंदर्य को पूर्ण रूप से समझनेवाले के सिवा दूसरा उन्हें अंकित नहीं कर सकता। इन सब बातों को देखकर चित्रकला के आधुनिक बड़े बड़े विद्वान भी मुग्ध होकर मुक्त कंठ से इनकी उत्कृष्टता की प्रशंसा करते हैं। मिस्टर ग्रिफिथ ने मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई एक रानी के चित्र की प्रशंसा करते हुए लिखा है—
करुण रस और अपना भाव ठीक ठीक प्रदर्शित करने में चित्रकला के इतिहास में इससे बढ़कर कोई चित्र नहीं मिल सकता। प्लौरेस के चित्रकार चाहे अधिक अच्छा आलेखन कर सकें और वेनिस-वाले अच्छा रंग भर सकें, परंतु उनमें से एक भी इससे बढ़कर भाव प्रदर्शित नहीं कर सकता है। चित्र का भाव इस प्रकार है—

झुके हुए सिर, अधखुली आँखें और शिथिल अंग प्रत्यंग के साथ वह रानी मृत्यु-शय्या पर बैठी हुई है। उसकी एक दासी हलके हाथ से उसे सहारा दिए हुए खड़ी है, और एक दूसरी,

* दी पेंटिंग्स आफ अजंटा—जान ग्रिफिथ रचित; प्लेट नं० १।

चितातुर दासी मानो नाड़ी देखाती हो, इस तरह उसका हाथ पकड़े हुए है। उसकी मुखमुद्रा से वह अत्यंत व्यग्र प्रतीत होती है, मानो वह यह सोच रही है कि मेरी इस स्वामिनी का प्राण-पखेरू कितना शीघ्र उड़नेवाला है। एक ओर दासी पंखा लिए हुए खड़ी है और दो पुरुष बाईं तरफ से उसकी ओर देख रहे हैं, जिनके चेहरों पर गहरी उदासीनता छा रही है। नीचे फर्श पर उसके संबंधी बैठे हुए हैं, जो उसके जीवन की आशा छोड़कर शोकाकुल हो रहे हैं। एक अन्य स्त्री हाथ से अपना मुँह ढककर बुरी तरह रो रही है।

इन चित्रों के असाधारण कलाकौशल से आकर्षित होकर कई चित्रकलामर्मज्ञों ने इनकी नकलें कीं और इन पर कई पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

अजंटा की गुफाओं में अंकित जातक आदि को देखने से प्रतीत होता है कि उनके निर्माताओं ने अमरावती, साँची और भरहुत के स्तूपों की शिलाओं पर अंकित जातकों तथा गांधार-शैली के तत्क्षण कला (sculpture) के नमूनों का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया हो, क्योंकि उनमें तथा इनमें बहुत कुछ साम्य पाया जाता है।

इसी तरह ग्वालियर राज्य के अमभेरा जिले में बाघ गाँव के पास की पर्वतीय गुफाओं में भी बहुत से रंगीन चित्र हैं, जो ई० स० की छठी और सातवीं शताब्दी के अनुमान किए जा सकते हैं। वे भी अजंटा के चित्रों के समान सुंदर, भावपूर्ण और चित्र-कला के उत्तम नमूने हैं। इन चित्रों की भी नकलें हो गई हैं और उन पर एक ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। लंदन के 'टाइम्स' पत्र ने उक्त चित्रों की समालोचना करते हुए लिखा है कि यूरोप के चित्र उत्तमता में इनकी समानता नहीं कर सकते। 'डेली टैलीग्राफ' पत्र का कथन है कि कला की दृष्टि से ये चित्र इतने उत्कृष्ट हैं कि इनकी प्रशंसा नहीं

की जा सकती। इनका रंग भी बहुत उत्तम है। जीवन और चेष्टा के भाव-प्रदर्शन की दृष्टि से ये चित्र केवल अपूर्व और चित्ताकर्षक संस्कृति को ही नहीं बताते, किंतु वे एक सत्य और विश्वव्यापी प्रभाव के दर्शक हैं।

कुछ समय पूर्व सित्तन नवासल में, जो कृष्णा नदी के दक्षिणी किनारे पद्मकोटा से पश्चिमोत्तर में नौ मील परे है, पहाड़ को काटकर बनाए हुए मंदिर में भी ऐसे कुछ चित्रों का पता लगा है। इन चित्रों को सबसे पहले टी० ए० गोपीनाथ राव ने देखा। ये चित्र पल्लव शासक महेंद्रवर्मा (प्रथम) के समय (सातवीं शताब्दी के प्रारंभ) में बनाए गए हों ऐसा अनुमान किया जाता है। इस मंदिर की भीतरी छतों, स्तंभों और उनके सिरों पर ये चित्र अंकित हैं। यहाँ का मुख्य चित्र बरामदे की प्रायः सारी छत को घेरे हुए है। इस चित्र में कमलों से भरा हुआ एक सरोवर बतलाया गया है। पुष्पों के मध्य में मछलियाँ, हंस, भैंसे, हाथी और हाथ में कमल लिए हुए तीन साधु दीखते हैं। उन साधुओं का अंगविन्यास, उनका रंग और चेहरे की मधुरता वस्तुतः बहुत आनंदप्रद है। स्तंभों पर नाचती हुई स्त्रियों के चित्र भी हैं। इस मंदिर में अर्धनारीश्वर, गंधर्वों तथा अप्सराओं के भी चित्र हैं। अर्धनारीश्वर जटा-मुकुट और कुंडल पहने हुए हैं। उनकी आँखों से दिव्य महत्ता की गहरी सूचना प्रकट होती है। इन चित्रों में से कुछ का रंग फीका पड़ गया है, तो भी चित्रों की उत्तमता का परिचय भली भाँति मिल जाता है। इन चित्रों में से कुछ प्रकाशित भी हो चुके हैं।

मध्य प्रदेश की सरगुजा रियासत में लक्ष्मणपुर गाँव से १२ मील पश्चिम में रामगढ़ पहाड़ी पर खुदी हुई 'जोगीमारा' गुफा की छत में भी कुछ रंगीन चित्र बने हुए हैं, जो हमारे निर्दिष्ट काल के प्रारंभ के आसपास के माने जाते हैं।

इन चारों स्थानों में जो भारतीय प्राचीन चित्र मिले हैं वे ही हमारे निर्दिष्ट काल तथा उससे कुछ पूर्व के हमारी चित्रकला के सर्वोत्कृष्ट बचे खुचे नमूने हैं। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे उष्णता वाले स्थानों में बारह तेरह सौ वर्ष तक के चित्र बिगड़ते बिगड़ते भी किसी प्रकार अच्छी स्थिति में रह गए और उन्हीं से भारत की प्राचीन समुन्नत चित्रकला की उत्तमता का अनुमान होता है।

इस समय के पीछे अनुमान ६०० वर्षों तक भारतीय चित्रकला का इतिहास अंधकार में ही है, क्योंकि उस समय के कोई चित्र नहीं मिले, परंतु चीनी तुर्किस्तान के खोतान प्रदेश, भारतीय शिल्पकला का अन्य देशों में प्रभाव दनदनयूलिक और मीरज स्थानों से दीवारों, काष्ठफलकों या रेशम आदि पर अंकित जो चित्र मिले हैं, वे चौथी से ग्यारहवीं शताब्दी तक के आसपास के अनुमान किए जा सकते हैं। उनमें भारतीय चित्रकला का स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है। जैसे लंका में भारतीय सभ्यता फैली हुई थी, वैसे मध्य एशिया में तुर्किस्तान या उससे परे तक भारतीय सभ्यता का विस्तार था और भिन्न भिन्न भारतीय शास्त्रों तथा कलाओं आदि का वहाँ प्रचार हो गया था।

भारतीय चित्रकला यूरोपीय चित्रकला की तरह रूप-प्रधान न होकर भावप्रधान है। हमारे चित्रकार बाहरी अंग प्रत्यंगों की सूक्ष्मता तथा सुंदरता पर उतना विशेष ध्यान नहीं देते, जितना यूरोपवाले। वे उसके आंतरिक और मानसिक भावों को प्रदर्शित करने में ही अपना प्रयत्न सफल समझते हैं। व्यक्त के भीतर जो अव्यक्त की छाया छिपी हुई है, उसको प्रकाशित करना ही भारतीयों का मुख्यतम उद्देश्य रहा है। वस्तु के रूप से उन्हें उतनी परवाह नहीं, जितनी मूलभाव को स्पष्ट करने से थी।

मिस्टर ई० बी हैवेल का कथन है—‘यूरोपीय चित्र मानो पंख कटे हुए हों, ऐसे प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे लोग केवल पार्थिव सौंदर्य का चित्रण जानते थे। भारतीय चित्रकला अंतरिक्ष में ऊँचे उठे हुए दृश्यों को नीचे पृथ्वी पर लाने के भाव और सौंदर्य को प्रकट करती है*।’

बंगाल की आधुनिक चित्र-शैली अजंटा की प्राचीन शैली की तरफ झुकी हुई है।

संगीत

यों तो प्राचीन भारत सब प्रकार की विद्या एवं कला-कौशल में बड़ी उन्नति कर चुका था, परंतु संगीत कला में तो इस देश ने बहुत ही अधिक उन्नति कर ली थी। अर्वाचीन वैज्ञानिकों ने जिन जिन बातों से संगीत का महत्त्व माना है, वे सब वैदिक काल में भी यहाँ विद्यमान थीं। उस समय कई प्रकार की वीणा, भाँझ, बंसी, मृदंग आदि वाद्य काम में आते थे। वैदिक साहित्य में भिन्न भिन्न प्रकार की वीणाओं के नाम ‘वीणा’, ‘कांडवीणा†’ और ‘कर्करी‡’ आदि मिलते हैं। ‘भाँझ को आघाट§’ या ‘आघाट||’ कहते थे और इस वाद्य का प्रयोग नृत्य के समय होता था। बंसी के नाम ‘तूणव¶’ और ‘नाडो ×’ मिलते हैं। मृदंग आदि चमड़े से मढ़े हुए वाद्य ‘आड-

* इंडियन स्कल्वर्स एंड पेंटिंग्स; पृ० ८८।

† काठक संहिता (३४।५)।

‡ ऋग्वेद २।४३।३॥ अथर्ववेद ४।३७।४।

§ वही; १०।१४६।२।

|| अथर्ववेद ४।३७।४।

¶ तैत्तिरीय संहिता ६।१।४।१।

× ऋग्वेद १०।१३५।७।

वरः', 'दुंदुभिः', 'भूमि दुंदुभिः' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध थे। आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि भारतीय मृदंग आदि बाजे तक वैज्ञानिक सिद्धांत पर बनाए जाते थे। पारचात्य विद्वानों का कहना है कि तार के वाद्यों का प्रचार उसी जाति में होना संभव है, जिसने संगीत में पूर्ण उन्नति कर ली हो। तंतुवाद्यों में वीणा सर्वोत्तम मानी गई है, और वैदिक काल में यहाँ उसका बहुत प्रचार होना यही बतलाता है कि संगीत कला ने उस समय भी बड़ी उन्नति कर ली थी, जब कि संसार की बहुत सी जातियाँ सभ्यता के निकट भी नहीं पहुँचने पाई थीं।

प्राचीन काल में भारत के राजा आदि संगीत के ज्ञान को बड़े गौरव का विषय समझते थे और अपनी संतान को इस कला की शिक्षा दिलाते थे। पांडवों के बारह वर्ष के वनवास के पीछे एक वर्ष के अज्ञातवास के समय अर्जुन ने अपने को बृहन्नला नामक नपुंसक प्रकट कर राजा बिराट की पुत्री उत्तरा को संगीत सिखाने की सेवा स्वीकार की थी। पांडुवंशी जनमेजय का प्रपौत्र उदयन, जिसको वत्सराज भी कहते थे, यौगंधरायण आदि मंत्रियों पर राज्य-भार डालकर वीणा बजाने और मृगयादि-विनोद में सदा लगा रहता था। वह अपनी वीणा के मधुर स्वर से हाथियों को वश कर वनों में से उन्हें पकड़ लाया करता था। एक समय अपने शत्रु उज्जैन के राजा चंडमहासेन (प्रद्योत) के हाथ में वह कैद हुआ और संगीत कला में निपुण होने के कारण चंडमहासेन ने उसे अपनी पुत्री वासवदत्ता को संगीत सिखाने के लिये नियुक्त किया। इन दो ही उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल के राजा संगीत-प्रिय

० वाजसनेयी संहिता ३०।१६।

† ऋग्वेद १।२८।५।

‡ तैत्तिरीय संहिता ७।५।३।३।

होते थे और संगीत-वेत्ताओं को सादर अपने यहाँ रखकर इस कला की उन्नति कराते थे। राजा कनिष्क के दरबार का प्रसिद्ध कवि अश्वघोष धुरंधर गायनाचार्य भी था। गुप्तवंशी राजा समुद्रगुप्त प्रयाग के स्तंभ-लेख में अपने को संगीत में तुंबुरु और नारद से बड़ा कर बतलाता है और उसके एक प्रकार के सिकों पर वाद्य बजाते हुए उसी राजा की मूर्ति बनी है। विक्रम संवत् की पाँचवीं शताब्दी में ईरान के बादशाह बहराम गोर का हिंदुस्तान से १२००० गवैयों का नौकरी के लिये ईरान भेजना वहाँ के इतिहास में लिखा है*।

हमारे निर्दिष्ट काल में भी संगीत की पर्याप्त उन्नति थी। नृत्य का सामाजिक जीवन में पर्याप्त भाग था। स्त्रियों को तो नृत्य की विशेष शिक्षा दी जाती थी। राज्यश्री को संगीत सिखाने के लिये विशेष प्रबंध किया गया था, जैसा कि 'हर्षचरित' से पाया जाता है। स्वयं हर्ष की 'रत्नावली' में रानी के द्वारा प्रियदर्शिका को संगीत के तीनों अंगों के सिखाने के प्रबंध का उल्लेख है। ऐसे ही हर्ष के समय में नाट्यशाला (प्रेक्षागृह) तथा संगीतभवन होने का भी उल्लेख मिलता है। राजाओं के दरबार में नाच, गान आदि होता था। बाण ने हर्ष के दरबार में बंदी (स्तुतिगायक), मार्दगिक (मृदंग बजानेवाला), सैरंगी, लासक (नाचनेवाला), शैलालि (नट) और नर्तकी आदि का वर्णन किया है। भक्ति-मार्ग के साथ संगीत-कला की भी विशेष उन्नति हुई। संगीत विषयक ग्रंथों और आचार्यों का परिचय वाङ्मय के प्रकरण में दिया जा चुका है।

कई बातों में यूरोपीय संगीत भारतीय संगीत से मिलता जुलता है, जिसके कारण भी विवेचना करते हुए सर विलियम हंटर ने लिखा है—'संगीत-लिपि (Notation) भारत से ईरान में, फिर

* राजपूताने का इतिहास; खिल्द १; पृ० २४—२०।

अरब में और वहाँ से गाइडो डी अरेजो (Guido d' Arezzo) के द्वारा ई० स० की ग्यारहवीं शताब्दी में यूरोप में पहुँची* । प्रोफेसर बेबर का भी यही मत है । ऐनी विल्सन लिखती हैं—‘हिंदुओं को इस बात का अभिमान करना चाहिए कि उनकी संगीत-लिपि (Notation) सबसे प्राचीन है†’ ।

* विजियम हंटर; इंडियन मैनोस्क्रिप्ट्स; इंडिया पृ० २२६ ।

† शार्ट अकाउंट आफ़ दी हिंदू सिस्टम्स आफ़ म्यूजिक; पृ० ५ ।

अनुक्रमणिका

- अंक—ग्रीक—१११; हिमालयिक— १११; फिनिशियन— १०; रोमन—१११;—विद्या का भारत में आविष्कार १०८
 अनुक्रम—उत्पत्ति तथा प्रचार का इतिहास ११२; प्राचीन भारत का— १०६; मिश्र का पुराना—११०; मिश्र का सुवरा हुआ—१११
 अकृत—पर पुस्तकें, ११२
 अकृतशैली—प्राचीन, अशोक के लेखों के उदाहरण ११०; भारतीय—, अलबेरुनी का मत ११४; नवीन-शैली के—, उसका प्रचारक ११२; नवीनशैली, बग्याली गाँव में खोदकर निकाली पुस्तक में ११२; दशगुणोत्तर—योगसूत्र के भाष्य में ११२; तुहरसेहिता की टीका में भट्टोत्पल द्वारा पुलिश सिद्धांत का उद्धरण ११२, बराहमिहिर की पंचसिद्धान्तिका में ११२
 अक्षय—इनकी आठ भेषियाँ, अल-बेरुनी का उल्लेख ४७
 अक्षकादेवी—विक्रमादित्य की बहिन, राजकार्य में निपुणता ६६
 अक्षोभ्यतीर्थ १६
 अजंटा—देखो चित्रणकला
 अद्वैतवाद १००
 अद्वैत संप्रदाय—प्रचार का कारण ६७
 अनहिलवाड़ा—१२
 अनेक्सेचिंस—दर्शनान्वासाय भारत आया १०१
 अनेकार्थसमुच्चय—शाश्वत का ८७
 अपभ्रंश भाषा १३७;—का साहित्य १३७;—में डिंगल भाषा के गीत १३७
 अपवर्ग—प्राप्ति का उपाय, न्यायदर्शन के अनुसार ८८
 अभिधानपदीपिका—योगगलापनरचित, पाली का कोष १३६
 अभिधान-रत्नमाला—इलायुष की ८७
 अमरकोष—अमरसिंह का ८६;—का परिशिष्ट, त्रिकांशोप पुरुषोत्तमदेव रचित ८६;—का प्रसिद्ध टीकाकार, भट्टरी-स्वामी ८६

- अमरसूक्त—१२ मैकडॉनल का मत ७६
- अर्ज बहर—आर्यभट के ग्रंथों का अरबी अनुवाद १०६
- अर्थशास्त्र—कौटिल्य का १२०; नीति-शास्त्र का पर्याय १३०; वर्तमान—१३२
- अर्थमागधी—में लिखे ग्रंथ १३४
- अलंकार शास्त्र—के मुख्य लेखक तथा ग्रंथ ८३
- अल्योरिट्मस—अल्खारिज्मी का अक्षरांतर ११४
- अलमनसूर—वैद्यक ग्रंथों का अरबी में अनुवाद करनेवाला १२६
- अलस (अलस) सूरि—काव्यप्रकाश के शेष भाग का लिखनेवाला ८३
- अलबेरुनी ६२, १२६
- अवंतिवर्मा २४
- अवंतिसुंदरी—राजशेखर की विदुषी परनी ६४
- अवतार—जैनों के—, बौद्धों के—, हिंदुओं के—३८
- अविद्या—दुःखों का मूल कारण ४
- अश्वघोष ७५
- अश्वमेध यज्ञ ८
- अशोक—मौर्यवंशी सम्राट् ३
- अहिंसा ५
- अहिंसावाद ७
- आकर्षण शक्ति—पृथ्वी में, १०५
- आगम २०
- आदित्य भक्त—हर्ष के पूर्वज ३१, ३२
- आध्यात्मिक जीवन—भारतीयों का, ५६
- आन्वीक्षिकी १३३
- आभूषण ५५;—पर हुएनत्संग का मत ५५; नव और बुलाक ५६
- आय १५७
- आयुर्वेद—वैदिक साहित्य में—, ११८;—का प्रभाव, यूरोपीय चिकित्सा पर १२५; डाक्टर सील का मत १२७;—के तीन जन्मदाता आचार्यों का अग्नेवेद में उल्लेख १२०, वृंद का सिद्धयोग—११६
- आर्किमीडीस ११८
- आर्थिक अवस्था १६३
- आर्यभट १०४
- आर्यभट—का आर्यभटीय १०३;—(दूसरा) का आर्यसिद्धांत १०३
- आलवार राजा १७
- आवांतिक भाषा (चूल्का पैशाची या भूत भाषा) १३६
- इस्लाम—५, १४६, १६६
- इब्न खुरदाद—भारत में सात अश्विणों का वर्णन ४५
- इस्लाम—के प्रचार में हिंदुओं की उदारता ३६
- उत्कृष्ट यज्ञ ५
- उत्तराधिकार संबंधी नियम १५६
- उज्ज्वल दत्त—उज्जवि सूत्रों का टीका-कार ८५

- उदयसुन्दरी कथा—सोढल कृत ८० कवि—उनके तथा उनके प्रांथों के
उपवास-चिकित्सा १२२ नाम ७८
- एनीपद शब्द १२२ कवीन्द्र-वचन-समुच्चय—'टामस'-प्रका-
शित ७८
- ग्रीदीप्य—द्रविडों का एक भेद ४४
- ग्रीजार—तेज धारवाले, राय का मत
१६८;—की सूक्ष्मता १७०
- ग्रीपवालय—पाटलिपुत्र के, फाहियान
द्वारा वर्णित १२४
- ग्रीपधिशास्त्र—भारतीय, विलियम हंटर
का मत १२६
- कचावन—पाली भाषा का प्राचीन
वैयाकरण १३४
- कछुनी (halfpant) ४४
- कडफिसिस २०
- कथापू ७६
- कनड़ी भाषा के ग्रंथ १४१
- कनड़ी साहित्य १४१
- कनिष्क ६
- कपालकुंडला २३
- कपिल १०२
- कर्मचारियों के नाम १२६, १२७
- कर्मयोग १८
- कर—१२८; भूमि पर—१२७; हुए-
त्संग द्वारा वर्णित १२८
- करिकाल चोल—सैा मील का बांध
बनवानेवाला १६४
- कल्लट—२४
- कविराज भार्ग—अमोचवर्ष-कृत, कनड़ी
भाषा में १४१
- कविय—द्वारा खाट पर मरना निन्द-
नीय ६३;—का उच्च जीवन,
हुएत्संग का उल्लेख ४२;
इनका समाज में स्थान ४४;
इनकी दो श्रेणियाँ, कटरिय
और सबकुट्टिय—४२; पेशे के
अनुसार—४२; इनमें मरा
वर्ष, अस्मत्सङ्गी का उल्लेख
४२; इनमें शिक्षा का प्रचार
४४; इनमें वंश, सूर्यवंश और
चंद्रवंश ४२; वंशों का उल्लेख,
राजतरंगिणी में ४६
- क्षेत्रगणितशास्त्र—भूमिमापन पर १३३
- क्षेमेंद्र कवि—के ग्रंथ ७७
- कातंत्र स्थाकरण—शर्ववर्मा का ८४
- कापालिक—२७
- कामशास्त्र—१२७, १२८;—पर लिखने
वालों के नामों की सूची, वात्स्या-
यन से पूर्व, १२७
- कामसूत्र—वात्स्यायन प्रणीत १२७
- कायस्थ—(गहलकार) ४७; गह-
लकारी का पेशा करनेवाली एक
जाति ४८; सूरज भज—शाकद्दीपी
(मग) ब्राह्मण ४८; बालभ—
शत्रिव जाति के ४८

- कायावतार २२
 कालामुख २३
 कालिदास ७५
 काम्य, गद्य ७६
 काशिकावृत्ति—का अध्ययन १४५
 काशिकावृत्ति—जयादित्य और चामन
 कृत, पाणिनि के सूत्रों पर भाष्य
 ८५
 कासिम—मुहम्मद ३८
 किरातागुनीय—भारवि कृत ७५
 कुमारपाल—१५
 कुमारिल भट्ट—७, ३५ एक मीमांसक
 मत का प्रवर्तक ६४;—द्वारा
 लिखित कातंत्रवातिक और श्लोक
 वातिक, मीमांसा पर ग्रंथ ६४;
 —द्वारा पशुहिंसा की पुष्टि ३५;
 —द्वारा कर्मकांड का पुनरुज्जीवन
 ३५
 कुरते—५४
 कुरल—अपि तिरुवल्लुकर कृत
 तामिल का एक उत्कृष्ट ग्रंथ १४०
 कुलोत्तुंग चोडदेव, १२०० मील लंबी
 सड़क बनानेवाला १६६
 कुशिक २२
 कुरितयाँ—मल्लों की ५२
 कुसुमांजलि—उदयनकृत, आस्तिक-
 वाद का उत्कृष्ट ग्रंथ ८६
 कर्मशास्त्र १३६
 कुमिश्रा १२३
 कृष्णमिश्र का प्रबोधचंद्रोदय ८२
 कृष्ण—इनके संबंधों का उल्लेख स्मृ-
 तियों में १७०
 कृषि १६३,—करना पाप—जैनियों
 तथा बौद्धों का मत ४१, ४६;
 —संबंधी ग्रंथ १३३
 कैची—(भुरिज), ऋग्वेद में ५३
 कोकशास्त्र १२८
 कोषवर्धन पर्वत ६
 कोष—संस्कृत भाषा के, ८६; और
 कोषकारों के नाम ८७
 कौरव्य २२
 कौलमत—कर्पूरसंजरी में २८
 खेती—की उन्नति (भूमि के नाप)
 १५८
 गंगवंशी राजा १४
 गण—इनका वर्णन, बौद्ध साहित्य में
 १७०; (संघ) कृष्णों का १७०.
 —संस्था (Guilds) १७०;
 गढ़ेरियों के—१७०; व्यापारियों
 के—१७०
 गणित शास्त्र—की उन्नति—१०७
 भारतीयों द्वारा आविष्कृत, चीज-
 गणित, ज्यामिति और खगोल—
 ११६
 गणित शास्त्र—भारतीय, काजरी
 द्वारा प्रशंसा १०७, १०८;
 डी मॉर्गन द्वारा प्रशंसा १०८;
 —के भिन्न भिन्न विषयों की
 सूची ११५; सरल गणित के
 आठ नियम ११५

गणेश की सूँड का वर्णन—मालती-
साधव में २६

गतिशास्त्र ११८; ग्रहमंडल संबंधी
११८

गंधिया—लिक्कों के उपर्युक्त नाम का
इतिहास १६२

गर्ग २२

गरुडध्वज—हेलियोदोरनिर्मित १८०

गानभवन ११

गीतगोविंद—जयदेवकृत, गेय काव्य
७७

गुफाएँ—दो प्रकार की चैत्य और
बिहार १७४

गुरु ११

गुह ७

गोवर्धनाचार्य—कृत ध्वन्यालोक ८३

गौतम बुद्ध ३६, १०, १२

गौडवहो—में मनुष्य तथा पशुओं
की बलि ६२

ग्रंथलिपि—तामिल की नवीन लिपि
१४०

ग्रामसेवा १५३; इनकी निर्माणपद्धति
१५४

ग्रामसभाएँ १५३

घारापुरी २१

चंद्रगोमिन—कृत चांद्र व्याकरण ८५

चक्रपाणिदत्त—सुश्रुत और चरक का
टीकाकार, चिकित्सा-सार-संग्रह
का लेखक ११६

चतुर्वेद प्रबुद्धक स्वामी—शास्त्रकुट

सिद्धांत का टीकाकार १०४

चरक ११८; लेटिन में—१२१, सैरेपि-
यन द्वारा प्रामाणिक माना
जाता १२६

चरक-संहिता—अग्निवेश के आधार
पर ११६

चरित्र—की उज्ज्वलता, भारतीयों
के ६२; मेगस्थनीज का मत ६२;
हुएन्संग का मत ६३; अल इब्-
रिसी का मत ६३; शम्सुद्दीन अल-
अब्दुल्ला का मत ६३; मार्को
पोलो का मत ६३

चारवाक १००;—संप्रदाय २०, २८;
—के सूत्रों का कर्ता बृहस्पति ६८

चालुक्य १४

चिकित्सा—पशु की, मनुष्य की ११८,
शरव तथा उसका विद्वान् जीवक
१२०

चिकित्सासार-संग्रह — चक्रपाणिदत्त
११६

चिकित्सा शास्त्र—शरव का १२१

चिकित्सालय १२५

चित्तौड़ का किला २१

चित्र—'जोगी मारा' गुफा के १८६;
गुफाओं की दीवारों पर—१८३,
अजंठा में—१८१

चित्रशकला—भारतीय, टाइम्स का
मत १८८; डेली टेलीग्राफ का
मत १८८,—की विशेषता
(भावप्राधान्य) १६०;—पर

- हैबेल का मत १११; अजंटा की विश्वास, शास्त्र की कादंबरी गुफाओं में—१८३; ग्रिफिथ में ६१; अथर्ववेद में ६१ द्वारा प्रशंसा १८७; सित्तन जैन—इनकी पाठशालाएँ १३; इनकी नवासल में—१८६ नमस्कारविधि १३;—धर्म (देखो धर्म)
- चित्रशालाएँ २१
- वीर फाड़—संबंधी शास्त्र तथा ग्रंथ १२० जैनमत—का प्रचार, दक्षिण में १३
- बुनाव—सांख्यिक १२४ जैन महाराष्ट्री—महाराष्ट्री प्राकृत का चुंगी कर १२८ एक भेद १३६
- चैत्य १७४ जैनियों—पर अस्याचार १४
- चाल १३, १४ जैमिनि ६३
- छंदःशास्त्र—के ग्रंथकार तथा ग्रंथ ८३ जोगीमारा—गुफा के चित्र १८६
- छंदोबद्ध लेख—इनकी प्रचुरता ८४ ज्या और उत्क्रम ज्या—की सारणियाँ छूतछात—का अभाव, भिन्न भिन्न ११७
- वर्णों में २० ज्योतिष—वेद का एक अंग १०२;
- जंगम २४ वेदों में—(दिन-रात होने का कारण) १०२; फलित ज्योतिष
- जयदेव—कृत गीतगोविंद ७७ १०६, १०७; अलबेरूनी द्वारा
- जगन्नाथ १६ उल्लेख १०२; चीन में प्रचार
- जयसिंह—(सिद्धराज) १२ १०६; प्रोफेसर विल्सन का मत
- जलविहार—२२ १०६; भारतीय और यूनानी
- जातकमाला—का अध्ययन १४२ ज्योतिष की समानता १०३; नवग्र
- जाति—पर ह्युप्लेसस का मत—४७ और कालनिरूप्य का ज्ञान १०२;
- जातिभेद—बढ़ने के कारण ४३;— भारतीय ज्योतिषियों का अरब में बुलाया जाना १०६; लह
- का अभाव, क्षत्रिय वर्ण में ४६ का लहसिद्धांत १०४; बृद्धगर्ग
- जातिर्या—अस्पृश्यों में, चाण्डाल और संहिता, ज्योतिष पर ग्रंथ १०३; सुरीयपद्धति, ज्योतिष पर
- सूतप ४८; शूद्रों की—, पेशों ग्रंथ १०३; सूर्यसिद्धांत १०३;
- के अनुसार ४७; उपनामों उस के चार भाग १०२; सिंहा-
- का जातियों में परिणत होना ४३ चार्थ्य ज्योतिर्विद १०३; सिंह
- जादू टोना—प्रभाकरवर्धन की बीमारी
- में बाण का वर्णन ६१;—पर

हिंद, भारतीय ज्योतिष का दशकुमारचरित—दंडी कृत ८०
अरबी अनुवाद १०५ दशरात्र यज्ञ ८

तच्चण कला—१७४, पाटोली के मंदिर की—कर्नेल टाड द्वारा उसकी प्रशंसा १७७; फर्ग्युसन द्वारा प्रशंसा १७७

तबरी—एक इतिहासलेखक १०५

तर्कशास्त्र—पर मैक्स डंकर की सम्मति १०२

तात्पर्यपरिशुद्धि—उदयनाचार्य कृत ८६

तामिल भाषा—सबसे मुख्य द्विदि भाषा १४०;—में लिखे ग्रंथों के नाम १४०

तात्पर्य—रेशमी चोगा ५३

तिरुपान संबंध २५

तिलकमंजरी—धनपालकृत ८०

तीर्थंकर—१०, १२, १३

तोलकाप्पियम—तामिल का सबसे प्राचीन व्याकरण १४०

त्यूहार—हिंदुओं में प्राधान्य ५१

त्रयी १३३

त्रिकांडशेष—पुरुषोत्तम देव कृत, अमरकोष का परिशिष्ट ८६

त्रिकूर्चक शास्त्र १२१

त्रिकोणमिति ११७

त्रिमूर्तिर्वा २०

दंतशंकु १२१

दंड १२५

दंडनीति १३३

दर्शन—अध्ययनार्थ यूनानियों का पूर्व की यात्रा करना १०१; प्राच्य दर्शन पर श्लेगेल का मत १०१; हंटर का मत १०२; अनीरवरवादी ६४; बौद्ध दर्शन पर हिंदू दर्शन का प्रभाव ६; प्राच्य दर्शन का ग्रीक दर्शन पर प्रभाव १०१; उत्तर मीमांसा या वेदांत दर्शन ६५; बौद्ध—६६, ६६; जैन—६६;—के छः संप्रदाय ८७;—की उन्नति ८७

दशगुणोत्तर संख्याक्रम ११२

दामोदर कृत—हनुमन्नाटक ८२

दार्शनिक उन्नति—का सिंहावलोकन १००

दास प्रथा—हिंदू समाज में ५६; मनु, याज्ञवल्क्य स्मृतियों में—५६; १५ प्रकार के दासों का उल्लेख, याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर द्वारा ५६; दासों की अवस्था ६०; दासों की मुक्ति, याज्ञवल्क्य तथा नारदस्मृति में ६०; दास की मुक्ति का उल्लेख, मिताक्षरा में ६१; दासों और सेवकों में अभिन्नता ९१

दाहक्रिया १२२

दिक्पालों का उल्लेख, पतंजलि के महाभाष्य में ३२

दिगंबर १२

दिङ्नाय—मध्यकालीन न्याय का
प्रवर्तक १०

दिव्यसाक्षी—(ordeal) की प्रथा
१२५

देवदत्त नागवंशी ६

देवर्षिगणित समाश्रमण १३

दोलोत्सव ५२

द्युतगृह ५२

द्रविड़—भाषाओं का साहित्य १३६;
औदीच्य, द्रविड़ों का भेद ४४

द्रापि—युद्ध के समय पहिना जाने-
वाला सिया हुआ वस्त्र—सावण
५३

द्राविड़ी भाषा ७४

द्वारसमुद्र के वादव १८

द्वैतवाद १००

धर्म—शब्द की व्यापकता १३१;—की
शिक्षा १४६;—शास्त्र १३१;
जैन धर्म १२;—का प्रचार १२;
—की प्रगति १०;—का ग्रास
१३, १४;—का लिपिवद्ध होना
१३;—के तीन रत्न ११;—के नौ
तत्त्व १०;—के सिद्धांत १०;
बौद्ध धर्म १२, १६, १६;—का
पतन ८;—में ब्रुटियाँ ८;—के
भेद ५; प्रारंभिक—६;—का
मध्यम पथ ४;—के सिद्धांत
४;—की विशेषता ५;—में
विरल ५;—में संप्रदाय ५;

जैनधर्म का पार्यव्य १२;

धर्मपरिषद्, बलभी की १३;

धर्मलेख, अशोक का १२;

वैदिक धर्म १२;—के सिद्धांत ६,

१७; धर्मसम्मेलन—हुएन्संग

द्वारा वर्णित—५१; हिंदू धर्म

१२;—के प्रधानभूत अंग,

ईश्वर और वेद पर श्रद्धा ३५;

परधर्मियों की ओर सहिष्णुता

के उदाहरण ३८;—में सहि-

ष्णुता ३७;—के सामान्य अंग

३३;—का प्रभाव, बौद्ध धर्म पर ५

धर्मोत्तर—न्यायविद्वत् का टीकाकार १०

धातुविज्ञान—पर ग्रंथ १३३

धार्मिक जीवन—में प्रायश्चित्त का
महत्त्व ३४

धार्मिक त्योहार—अलबेलनी का वर्णन
३४

धार्मिक स्थिति का—सिंहावलोकन
३७

धार्मिक—सहिष्णुता ३७;—साहित्य
में परिवर्तन ३४;—साहित्य,
शैवी का २५

धोती २४

ध्वन्यालोक—गोवर्धनाचार्य कृत ८३

नकुलीप २२

नगर-सभाएँ—(म्युनिसिपैलिटियाँ)
१२५

नटसूत्र—शिलाहरी और कृशाब्ध के
१२६

- नरहरितीर्थ १६
 नलचंपू—त्रिविक्रमभट्ट कृत ८१
 नलोदय ७६
 नागरसर्वस्व—बौद्ध पद्यश्री कृत
 (कामशास्त्र पर) १२८
 नागरी वर्णमाला २७
 नाट्यनियमों के ग्रंथ १२६
 नाट्यशास्त्र—भरत का १२६
 नाटक—और उनके कर्ताओं की
 नामावली ८३
 नाटकगृह २१
 नालदियार—तामिल का प्राचीन-
 तम ग्रंथ १४०
 निघंटु १२६
 निर्वाण ४
 नीतिसार—कामंदक कृत १३०
 नृत्य—१२६, स्त्रियों को विशेष शिक्षा
 १६३
 नैयायिक—सुबंशु द्वारा उल्लेख ८६
 नौशास्त्र—नी निर्माण पर १३४
 न्याय ६६, १००; प्राचीन न्याय
 ६०; मध्यकालीन न्याय ६०
 न्यायबिंदु—का टीकाकार, धर्मोत्तर
 ६०; धर्मकीर्ति कृत—६०; नवीन
 न्यायसंप्रदाय का अभ्युदय ६०
 न्यायद्वारतारक शास्त्र—नागार्जुन कृत
 १४५
 न्याय-व्यवस्था—याज्ञवल्क्य वर्णित
 १५५
 न्यायदर्शन ८८
 न्यायसूत्र—वात्स्यायन कृत ८६; इसके
 भाष्य का टीकाकार, उद्योतकर
 ८६
 न्यूटन १०५, १६७
 पंचतंत्र—उसके अनुवाद ७६
 पंचमहायज्ञ का अधिकार—शूद्रों को
 (पार्तजल महाभाष्य) ४६
 पंच महाव्रत ११
 पंचरात्र संहिता—भागवत संप्रदाय का
 मुख्य ग्रंथ १७
 पंच स्कंधों का सेष ४
 पंचसायक—ज्योतिरीश्वर कृत (काम-
 शास्त्र पर) १२८
 पंचायत का प्रभाव १५५
 पंचायतन—प्रांच मुख्य उपास्य देवता
 ३२
 पंचायतन पूजा—परस्पर एकता का
 परिणाम ३७
 पतंजलि १६
 पद्मनाभतीर्थ १६
 पदार्थधर्मसंग्रह—प्रशस्तपाद कृत
 (वैशेषिक संप्रदाय का प्रामा-
 णिक ग्रंथ ६१;—का व्याख्याता,
 श्रीधर ६१
 पर्दा विप्लवक घटना—हुप्पत्संग ६६
 पर्दा—का अभाव ६५;—अस्तित्व
 नाटकों में नहीं ६६; प्रचार,
 मुसलमानों के बाद ६६; राजपूनी
 का हुप्पत्संग से मिलना ६६
 परमाणुवाद—वैशेषिक का ६१

- पशुपतियों—का शौक १२
 पशुचिकित्सा—१२२ (देखो चिकित्सा)
 —पर लिखे ग्रंथों की नामावली
 १२२;—संबंधी संस्कृत ग्रंथों
 का फारसी में अनुवाद १२३
- पशुविज्ञान १२३
 पशुहिंसा की पुष्टि, कुमारिल द्वारा
 ३२
 पांडव १३
 पाणिनि १६;—द्वारा नैयायिक शब्द
 की व्युत्पत्ति ८७;—में आदर
 भाव, महाभाष्यकार का ७४;
 —द्वारा संस्कृत का नियमों में
 जकड़ा जाना ७४;—के व्याकरण
 पर वार्तिक तथा महाभाष्य
 ८१;—द्वारा शिलाली और कुशा-
 र्व के नटसूत्रों का उल्लेख ८१
- पारा—अलबेरूनी का उल्लेख ११६
 पार्वार्भ्युदय काव्य—में मेघदूत का
 समाविष्ट होना ७७; जिनसेन
 कृत ७७
 पिराह—दर्शन ऋष्ययनार्थ भारत
 आया १०१
 पुनर्जन्म १
 पुनर्विवाह—पर पराशर का मत ६८;
 —पर अलबेरूनी का मत ६८
 पुराण—अठारह २६;—का प्रचार ३३
 पुष्यमित्र ८
 पूजा—गणपति की २६, गणेश की
 २८; गणेश श्रद्धा की २८;
 त्रिदेव की २६; शक्ति की २७;
 सूर्य की २६; सूर्यमूर्तियों की
 मंगों द्वारा, ३०; स्कंद की हेमाद्रि
 के व्रतखंड में २६; स्कंद या
 कार्तिकेय की २६
- पूर्वमीमांसा—६३, १००;—की व्यु-
 त्पत्ति ६१
 पृथ्वी के गोल होने का प्रतिपादन
 १०१
 पेशसू—नाचने के समय वस्त्र विशेष १३
 पैथागोरस—दर्शनाध्ययनार्थ भारत
 आया १०१
 प्रजातंत्र राज्य (गणराज्य) १११
 प्रशुभ्र—ज्योतिर्विद १०३
 प्रबोधचंद्रोदय—कृष्ण मिश्र का ८२
 प्रमाण—चार प्रकार के ८८
 प्रमेय—संख्या में बारह ८८
 प्रस्थानत्रयी—(वेदांत सूत्र, उपनिषद्,
 गीता) ६१
 प्राकृत—बोल चाल की भाषा ७४;
 —के कौष १३६;—के व्या-
 करण १३८;—के भेद १३१;
 पुरानी—१३४; प्रचलित—
 अशोक की धर्माज्ञाएँ १३४;—
 लेखकों के नाम; कपूरमंजरी में
 १३६;—साहित्य १३४
 प्लिनी—भारतीय काल पर १६६;
 भारत के रत्नों पर १७३
 प्लीट २४
 वज्रोद्धार—गौशेरवा का समकालीन,

- भारत में विज्ञान सीखने आया १२६
- बलि—मनुष्य और पशु की ६२
- बसव २४
- बसव पुराण २४, १४१
- बहम ६१
- बाणभट्ट ६, २३;—का पुत्र पुलिनभट्ट ८०;—कृत कादंबरी और हर्ष-चरित ८०; शुद्र की से उत्पन्न ब्राह्मण के पुत्र का उल्लेख ४६; हर्ष के जन्म पर कदियों के छोड़ जाने का उल्लेख १२२
- बीजगणित ११२; काजोरी का उल्लेख ११२; के अरब में प्रचारक, मूसा और याकूब ११६
- बुद्ध—विष्णु का नवाँ अवतार—३; अतीत—६; भावी—६; वर्तमान—६
- बृहत्कथा—गुणाध्य कृत ७६, १३६; उसके संस्कृत अनुवाद ७६, १३६,
- बृहत् कथामंजरी—डेमेंद्र कृत ७६
- बृहत् कथा श्लोकसंग्रह ७६
- बृहद्रथ—मौर्यवंश का अंतिम राजा ८
- बृहस्पति—चारवाक्य संप्रदाय के सूत्रों का कर्ता ६८
- बोधिसत्व ६
- बौद्ध ६८;—पर अत्याचार ८;—धर्म (देखो धर्म);—भिक्षुओं में मतभेद २;—सिद्धांतों का संकटन ७
- मध्य ६६
- महागुप्त—ज्योतिष का विद्वान्, उसके ग्रंथ १०४
- महादेव का करणप्रकाश १०४
- महाकथ—अश्वमेध द्वारा उल्लेख ४०; अरमसज्जर्दी का उल्लेख ४१;—के कर्तव्य ४१;—का समाज में स्थान ४०;—सभाएँ १२३; उपनामों का प्रयोग ४३; गोत्र तथा उपनामों के साथ उल्लेख ४३;—के भेद, शाखा और गोत्र के अनुसार ४३; पंचगौड और पंच-द्रविड़ ४४;—के आरम मरयोपाय के उदाहरण ६३;—में प्याज लहसुन वज्र २८;—में मांस-भक्षण २८;—का अन्य वशों के हाथ का बना भोजन खाना २०
- भक्तिमार्ग ६, १६, १८
- भक्ति—राम की—१८; वासुदेव की—१६; शिव की—२०
- भटनारायण—कृत बेणीसहार ८२
- भट्टि काव्य ७६
- भट्टोत्पल—बराहमिहिर और उसके पुत्र के ग्रंथों का टीकाकार १०७
- भगवद्गीता १६
- भदंत ६
- भर्तृहरि—के ग्रंथ ८२
- भरत—कृत नाट्यशास्त्र ८१
- भक्तनिर्माण शास्त्र १३३
- भवभूति २३;—के ग्रंथ ८१;—के

- मालती माधव में बलिदान का उल्लेख ६२
 भविष्य पुराण—में सर्पों के जन्म आदि का वर्णन १२३
 भविष्यत् कहा—धनपाल कृत १३७
 भस्मी—चमड़े की, वैदिक साहित्य में २३
 भागवत संप्रदाय—का मुख्य ग्रंथ पंच-रात्र संहिता १७
 भास्कराचार्य १०३, १०४, ११७, ११६
 भास् ७५
 भूगोल ११८
 भूतभाषा—के प्रचार संबंध में राज-शेखर का मत १३६
 भूभ्रमण—के सिद्धांत का विरोध १०४
 भृगु मुनि २२
 भोज कृत—चंपूरामायण ८१
 भोज—उपवनों में ५२
 भोजन ५०,—पर हस्तिंग का मत ५७;—अल इद्रिसी का मत ५७;—हुएन्त्संग का मत ५७
 भौतिक उन्नति ५०
 भंख—का भीकंडचरित १५२
 भंडनमिश्र—की चिदुषी पत्नी ६४
 भंजी १५२
 भंत्रिपरिषद् का शासन में अधिकार १५२
 मंदिर—के स्थानों का उल्लेख १७७; आर्य तथा द्रविण शैली के—१७५; चालुक्य शैली के—१७६; महमूद गजनवी का उल्लेख १७८;—की प्रशंसा १७८; राजशेखर का शिव मंदिर २५, ३१, १७३
 मग ब्राह्मण—का राकटद्वीप से आना ३०; अलबेरुनी का उल्लेख ३१
 मर्ग—की स्थापना ३३;—द्वारा अद्वैतवाद का प्रचार ६७
 मदिरापान—पर अल मसऊदी ५८
 मदुरा १३, १४
 मध्य २०
 मध्वाचार्य १६;—का जैमिनीय न्याय-माला विस्तार ६४, ६५;—का तत्त्वसंख्यान ६८;—का द्वैतवाद ६८;—के द्वैतप्रतिपादक भाष्य ६८;—के शिष्य १६
 मनुस्मृति—तथा उस पर टीकाएँ १३१
 मनोविज्ञान—पर बेसेंट की सम्मति १०२
 मम्मटाचार्य—कृत काव्यप्रकाश ८३
 मलयालम्—का साहित्य १४१
 महमूद गजनवी १७३
 महानिर्वाण ५
 महाभारत—का तेलगू में अनुवाद १४१
 महाभाष्य—का अध्ययन १४५

महायान ६;—पर प्रभाव, भगवत-

गीता का ६

महाराष्ट्री प्राकृत—में लिखे ग्रंथ

१३६; प्राकृत का एक भेद १३६

महावीर ६, १०, १२

महासुत सोम जातक १४७

मांसभक्षण—पर मसकदी ५७;—का

स्मृति तथा ग्राहणों में उल्लेख ५७

मागधी—प्राकृत का भेद १३५

मातृका—सात शक्तियाँ २७

माधव २३

माधवतीर्थ १६

मालतीमाधव २२

माया ६६;—का वर्णन, गौड़पाद की

कारिकाओं में ६५;—वाद के

सिद्धांत का प्रभाव ६८; वेदांत

सूत्रों में अभाव ६५

माकों पोलो ६४

मिताक्षरा—विज्ञानेश्वर कृत १३२;

—में दासों की मुक्ति का उल्लेख

६१

मीमांसा—न्याय का समानार्थक शब्द

६३;—शास्त्र ६३

मीमांसकों—के दो भेद ६४

मुकद्दमा—फ़लवेरूनी का उल्लेख

१६२

मुहम्मद कासिम ३८

मूर्तिर्था १७६; उनकी कल्पना का

प्रवाह ३२; षष्ट दिक्पालों की—

३२; गणपति की—२८, २६;

बुद्ध की—६, २०; ब्रह्मा की—

२५, २६; लकुलीशा की—२२;

विष्णु की—२०. शिव की—

२०, २१; शिव की त्रिमूर्ति—

२१; सूर्य की—२०, ३१; मूर्ति-

पूजा १६; संकर्षण और वासु-

देव की—१६

सृगपक्षि शास्त्र—हंसदेव लिखित

१२४

मेगास्थनीज १६, १६५

मेले १६७

मोक्ष २२;—की प्राप्ति १६

यंत्र—इनकी संख्या पर सुभुत और

वाग्भट का मत १२१; वर्णन

१२१

यौगिक उल्लेख १८२

याज्ञवल्क्य स्मृति १३१, १५२

योग ६३, १००

योगदर्शन ६२

योगसारसंग्रह—विज्ञानभिक्षु का ६३

योगसूत्र—पर व्यासभाष्य, वाचस्पति

मिश्र की टीका ६३;—पर टीका

राजा भोज की ६३

योग शास्त्र—में तंत्र और काव्यभूत

का विस्तार ६३

रत्नपरीक्षा—पर ग्रंथ १३३

रत्निरहस्य—कोका पंडित का १२८

राजवर्षादवीय—कविराज कृत ७७

राज्यवर्धन ६

राज्यश्री—की शिक्षा का उल्लेख, शास्त्र

- द्वारा १४;—को ललित कला की शिक्षा ६१
- राजनीति शास्त्र १३०; नीतिवाक्यामृत—सोमदेव सूरिकृत १३०; साहित्य के ग्रंथों में—१३०; महाभारत का शांतिपर्व १३०
- राजनीतिक स्थिति—स्त्रियों की १२६
- राजमुद्राएँ १२७
- राजसूयांक (करण)—भोजदेव कृत १०४
- राजराज चोल १४
- राजशेखर—कृत नाटक २८, ८२
- राजसिंह—यल्लव शासक २१
- राजसूय यज्ञ ८
- राजा—के कर्तव्य १२१
- राम-भक्ति १८
- रामानुज १४, १८, १६, ६६, ६७,
- रुग्मिनिरचय—या माधवनिदान ११६
- रुद्र शक्तियाँ २७
- रेखागणित ११६, ११७,
- रोमक सिद्धांत १०३
- लकुटीश २२;—के शिष्य २२
- लल्लु सिद्धांत—लल्लु का १०४
- ललित कला—विषयक रत्नावली में उल्लेख ६१
- लाटथायन—कृमियों और सरीसृपों का विद्वान् १२४
- लाटाचाप—ज्योतिर्विद् १०३
- लिंगपुराण २२
- लिंगायत—(वीर शैव) २४;—का प्रवर्तक, एकांत २४
- लीलावती—भास्कराचार्य कृत ६१
- वनस्पतिशास्त्र—के कोष ११६
- बराहमिहिर—की पंचसिद्धांतिका १०३, १०६, १०७
- वर्ण—हुएन्संग का उल्लेख ४०; अलबेरूनी का उल्लेख ४१, ४२, ४८; चारों वर्णों का खाना-पीना ५०
- वर्णाश्रम व्यवस्था—का विरोध ४०, ४६
- वदण—ब्रह्मगुप्त के खंडखाद्य का टीकाकार १०४
- वसंतोत्सव—रत्नावली में ११
- वसुगुप्त २३
- वज्र—हुएन्संग का वर्णन १४; बाण का वर्णन १४
- वाक्याटक वंशी ८
- वाग्भट्ट—(तेरह प्रकार के शक्य कर्म मानता है) १२१;—कृत अष्टांग संप्रद ११६;—कृत अष्टांगहृदय-संहिता ११६
- वाङ्मय ७३
- वाचस्पति—का चापीय घनचेत्र निकालने का साधन ११८
- वाचस्पति मिश्र—उद्योतकर का टीका-कार ८६
- वाद्यों—की वैज्ञानिकता १६२,—

- के नाम, वेद में १६१
वेद ३३
- वार्ता—(अर्थशास्त्र) १३२;—पर वेदांत ६६, ६७, ६८;—सूत्र व्यास के ग्रंथ—१३२, १३३ ६६;—पर भागुरी कृत भाष्य ६६;—का साम्प्र, जेनाफिनस और परमैनिडस के सिद्धांतों से १०१
- वासवदत्ता—सुबंधु कृत ८०
- वास्तुविद्या १८१
- विजयनदी—(ज्योतिर्विद्) १०३
- विजल—कलचुरि राजा २४
- विनयादित्य—गणित का पंडित ४४
- विमान—का वर्णन १०३
- विवाह—अनुलोम ४६; उदाहरण ४६;—की परिमिति, उपजातियों में ३८, ४८, ५०; प्रतिलोम ४६;—के अवसर पर कन्या की आयु ६७;—वयस के संबंध में कुछ उदाहरण ६७; बहुविवाह की प्रथा ६७; बालविवाह ६७; विधवा-विवाह ६७, ६८
- विशालदत्त—कृत मुद्राराक्षस ८२
- विशिष्टाद्वैत १८, २५
- विष्णु—के अवतार १७
- विष्णुवर्धन १४, १८
- विश्वविद्यालय १४२; मठ या विद्यालयों की संख्या १४२; तत्त्वशिला का—१४४; नालंद का—१४२, १४३
- विहार १७४
- विज्ञानस्कंध ४
- विज्ञानेश्वर—१५ प्रकार के दासों का उल्लेख ५६
- वृद्धगर्गसंहिता—ज्योतिष पर ग्रंथ १०३, १०६
- म०—२७
- वैजयंती कोष—यादवभट्ट कृत ८७
- वैताज्य पर्वत ११
- वैताल-नंचविंशति ७६
- वैदिक धर्म ३
- वैदिश्री शातकर्णों ८
- अहमनसूर—वैद्यक ग्रंथों का अरबी में अनुवाद करनेवाला १२६
- वैद्यक—का विकास, बौद्धकाल में ११८
- वैशाली १०
- वैशेषिक—नाम की व्युत्पत्ति ६१;—दर्शन, कणाद कृत ६०, ६६
- वैश्यों—के कार्य ४६; पर हुपुन्संग ४६;—का कृषिकार्य ४६
- वैश्यापेरुमई—व्यापार विषयक ग्रंथ १३४
- व्यवसाय—लोहे का १६८, १६९; भारतवर्ष में १६७; वस्त्र का—१६८
- व्याकरण—के ग्रंथों के नाम ८६; का महत्त्व ८६; चांद्र व्याकरण—चंद्रगोमिन कृत ८६;—के ग्रंथों का वर्णन, इरिसिंग द्वारा १४६;—का अध्ययन १४६

- व्यापार—जलमार्ग से १६५, १६६;
स्थल मार्ग से १६६, १६७
- व्यापारिक नगर १६५
- व्यापारी सभाएँ १५३
- व्यापार—की रक्षा १५६;—संबंधी
ग्रंथ वैरयारपेरुमई १३४
- व्रत रखना—अलवेरुनी का उल्लेख
३४
- शंकर—७, १८, १६, २३, २५, ३५,
३६, ३७, ६५, ६६, ६८
- शंकरदिग्विजय ७, २३
- शबरस्वामी—का भाव्य, जैमिनि के
सूत्रों पर ६४
- शरीर विद्या ११६
- शराब पीना—वात्स्यायन के काम-
सूत्रों में ५८; सुलेमान का
उल्लेख ५८
- शस्त्रविद्या—सुभत में १२०; महा-
भारत में उल्लेख १२०, विनय-
पिटक के महावग्ग में १२०;
भोजप्रबंध में १२०;—की प्रशंसा
१२७
- शस्त्र १२०, १२१; एनीपदशस्त्र १२२
- शक्तिपर्यं—(महाभारत का), राज-
नीति का उत्कृष्ट ग्रंथ १३०
- शाकटायन—एक (जैन) वैयाकरण
८५
- शाक्तों—के भेद—कौलिक और सम-
यिन २७; कालामुख (शक्ति
पूजा का एक संप्रदाय) २७;
- शैवीचक्र (शाक्तों का एक मंत्र-
व्यंज) २७
- शाखा—कलित ज्योतिष से संबंध
रखनेवाला एक भाग १०६
- शामूल—ऊनी कुरता ५३
- शाङ्गधरसंहिता—शाङ्गधर कृत ११६
- शास्त्रार्थ की प्रथा १४६
- शासन कार्य—हुएन्संग का वर्णन
१५१; शासन प्रबंध १५६; शासन
के मुख्य विभाग १५३; शासन-
पद्धति १५१; प्राचीन तामिल की
शासन पद्धति में परिवर्तन १६१
- शिक्षण विधि—हुएन्संग का वर्णन
१४६
- शिक्षा १४२
- शिक्षा-क्रम १४५; हुएन्संग का वर्णन
१४६; इरिसंग का वर्णन १४४;
- शिकार ५२
- शिल्पकला की प्रशंसा १०१, १८१
- शिलालेख—नगरी का १६; शेरगढ़
का ६
- शिव—की उपासना २०
- शिवदष्टि २४
- शिवलिंग २१
- शिशुपालवध—माघ कृत ७६
- शुकसप्तति ७६
- शूद्रक—कृत सुध्दकटिक ८१
- शृंगार—बालों का ५५
- श्वेतांबर १२
- शैव मत १४

- शौरसेनी—तथा उसमें लिखे ग्रंथ १४६
संप्रदाय २४; सारवत (यादव)
—१६;
- श्रीपति—लिखित रत्नमाला और संस्कार—का वर्णन, मिताचारा में
जातकपद्धति (फलित ज्योतिष ३३
पर) १०७;—लिखित सिद्धांत-
शेखर और धर्मकोविद (करण)
१०४ संस्कृत—साहित्य की भाषा ७३;—
साहित्य का विकास ७४;—की
उन्नति का ठीक अनुभव ७५;—
के विकास की दिशा ८६;—की
चरम उन्नति ८४
- संगीत कला—१६१, १६२, १६३; सती—के उदाहरण ६८; अलबेलनी
बहराम गोर द्वारा हिंदुस्तानी का मत ६६
गवैयों का ईरान में बुलवाया सत्कार्यवाद—(परिणामवाद) ८६
जाना १६३;—का धुरंधर मर्मज्ञ, समरांगण सूत्रधार—(वास्तुविद्या पर
अश्वघोष १६३;—का भक्तिमार्ग के अर्थ) १८१
के साथ संबंध १६३ ससुद्रगुप्त ८
- संगीत लिपि—भारत की १६३, १६४; सरस्वती-कंठाभरण—भोजनिर्मित पाठ-
गाइहो डी अरेजों—१६४ शाला १३६
- संगीत शास्त्र—और उसके अंग १२८ सर्पविद्या १२२
- संगीतरत्नाकर—में संगीत के विद्वानों सर्वतात—पराशरी का पुत्र ८, १८०
- का उल्लेख १२८, १२६ साक्ष्य—६१, ६२, ६३, ६६, १००;
- संघ—देखो गण निरीश्वर, ईश्वरकृष्ण का ६२;
- संघाराम—हुएन्संग का उल्लेख सेरवर, उपनिषदों में ६२;—
१४२; एक प्रकार का शिक्षण-कारिका, ईश्वर कृष्ण की ६२;
लय १४२ —का प्रभाव, नास्टिक मत पर
१०१;—का प्रभाव, ग्रीक दर्शन
- संप्रदायों—में एकता का भाव ३७ पर १०१
- संप्रदाय—जैन धर्म के—१२; पाशु- सांख्यतत्त्वकौमुदी—वाचस्पति मिश्र
पत—२२, २३; भक्ति—१६; की ६२
- भागवत—१६; मन्व—१६; लकु- सार्वजनिक कार्य १२६
- लीश—२२; लिंगाद्यत—२५; साहित्य—का अर्थ ७३;—की चर्चा
- बह्म—२०; विशिष्टाद्वैत—१६; शैव—२२, २३;
- वैष्णव—१६; शैव—२२, २३; शैव संप्रदाय की शास्त्रा, प्रत्यभिज्ञा

- से विनाद ५६
 सिकंदर ६४
 सिक्के १७१
 सिंचाई १६४
 सिद्धार्थ १०
 सिरोही राज्य २१
 सिंहासनद्वित्रिंशतिका ७६
 शिखरों—का आदर, प्राचीन काल में ६४; मनुस्मृति में ६६;—की स्थिति ६४;—की दिनचर्या ६६;—की शिक्षा और उसके उदाहरण ६४, ६५;—के वस्त्र—५३, ५४;—का मर्दों के साथ घूमना ६६;
 शिखरों—दरबार में ६६; युद्ध में—६६
 सीने की कला—पर हुण्ट्संग ५२;—का प्राचीनत्व ५३
 सुई—(ब्राह्मण ग्रंथों में) ५३
 सुकरात १०१
 सुभाषित—संग्रह ७८
 सुभाषित—रत्न—संदोह—अमितगति का ७६
 सुभुतसंहिता ११६
 सुभाषितावली—बल्लभदेव की ७८
 सोमदेव—का यशस्तिलक (चंपू) ८१
 सोमेश्वर—का सुखोत्सव ६२
 सूर्य—के पर्याय ३१;—की उपासना २६;—का वर्णन २६, ३०;—की कथा ३०
 सूद—राजतरंगिणी में वर्णित इंजी-निपर १६३
 सेना—के अफसरों के नाम १६०;
 भारतीय जलसेना का उल्लेख १५६, १६०; हर्ष की सेना का वर्णन १५६; सैनिक व्यवस्था १५६; सैनिक व्यवस्था में परिवर्तन १६२
 सोद्वल—कृत वदयसुंदरी कथा ४८
 सोमार्नद २४
 सोमेश्वर शतक—कनक्री में १४१
 स्कंद—रामायण में २६; महाभाग्य में २६; कनिष्क के सिक्कों पर २६
 स्तंभ १७८; धार का जयस्तंभ १६६; आग्रा का लोह स्तंभ १६८
 स्तूप १७४
 स्थितिशास्त्र ११८
 स्पंदकारिका २४
 स्पंदशास्त्र २३
 स्मृतिकारों—के नाम १३२
 स्मृतिकल्पतरु—लक्ष्मीधर का १३२
 स्याद्वाद—जैन दर्शन का मुख्य सिद्धांत ६६
 स्वच्छता—हिंदुओं की १२६
 हंटर १०५
 हनुमन्नाटक—दामोदर कृत ८२
 हर्ष—६;—का चुनाव राज्यपद के लिये १५२
 हर्षचरित २३
 हर्षवर्धन ४४;—कृत नाटक ८१
 हरकेलि नाटक—विग्रहराज (चतुर्थ) का ४५

(२१३)

हरिहर २६	नाम १२४
हरिहर पितामह २६	हेमचंद्र १४, ६४;—के ग्रंथ १४,
हारावली—पुरुषोत्तमदेव कृत, कोप८६	८४, ६०, १३० १३८
हार्नरशीद—भारतीय वैद्यों को अरब	हैरिकिलस की पूजा १६
हुलवाया १२६	होयसल राजा १४
हिपेरैटिक—मिश्र का सुधार हुआ	होरा—रुलित ज्योतिष से संबंध रखने-
ग्रंथ क्रम १११	वाला एक भाग १०६
हिपेरोग्लिफिक—मिश्र का सबसे पुराना	होरा षट्पंचाशिका—पृथुयशा जिवित
ग्रंथ-क्रम ११०	१०७
हुएन्संग—३, १६६;—का यात्रा विव-	होली—का उत्सव ४१
रण ६;—द्वारा पुण्यशालाओं के	ज्ञानयोग १८



Col
N^o 21.8.24

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.

S. 9. 148. N. DELHI.